गजानन माधव 'मुक्तिबोध' का इतिहासबोध

हरियाणा केंद्रीय विश्वविद्यालय की एम. फिल. (हिंदी) की उपाधि हेतु

प्रस्तुत लघु शोध-प्रबंध

शोध-निर्देशक

डॉ. अरविंद सिंह तेजावत

शोधार्थी

ज्योति चन्द्रा

अनुक्रमांक - 190972

हिंदी विभाग

मानविकी एवं सामाजिक विज्ञान पीठ

हरियाणा केंद्रीय विश्वविद्यालय

जांट-पाली, महेंद्रगढ़-123031 (हरियाणा)

2021

घोषणा-पत्र

मैं, ज्योति चन्द्रा यह घोषणा करती हूँ कि मैं डॉ. अरविंद सिंह तेजावत के निर्देशन में 'गजानन माधव 'मुक्तिबोध' का इतिहासबोध' विषय पर एम. फिल (हिंदी) की उपाधि हेतु लघु शोध-प्रबंध प्रस्तुत कर रही हूँ। यह मेरा पूर्णतः मौलिक कार्य है और मेरी जानकारी में हरियाणा केंद्रीय विश्वविद्यालय तथा अन्य किसी शैक्षणिक संस्थान में इससे पूर्व इस विषय पर कोई शोध कार्य नहीं हुआ है।

शोधार्थी

ज्योत्ति चंद्रा

दिनांक

अनुक्रमांक – 190972

प्रमाण-पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि ज्योति चन्द्रा ने मेरे निर्देशन में 'गजानन माधव 'मुक्तिबोध' का इतिहासबोध' शीर्षक पर शोध कार्य किया है। यह शोध कार्य इनके मौलिक प्रयास का प्रतिफल है। लघु शोध-प्रबंध की मौलिकता और प्रतिपादित तथ्यों की उपयोगिता को दृष्टिगत कर इसे मूल्यांकन हेतु प्रस्तुत करने की संस्तुति करता हूँ।

डॉ. अरविन्द सिंह तेजावत

सहायक आचार्य

हिंदी विभाग

मानविकी एवं सामाजिक विज्ञान पीठ

हरियाणा केंद्रीय विश्वविद्यालय

जांट-पाली, महेंद्रगढ़-123031(हरियाणा)

दिनांक

अनुक्रमणिका

		पृ. संख्या
भूमिका		i-iii
प्रथम अध्याय -	मुक्तिबोध: जीवन परिचय	1-26
द्वितीय अध्याय -	मुक्तिबोध एवं उनका आलोचनात्मक अवदान	27-49
तृतीय अध्याय -	मुक्तिबोध के इतिहासबोध की निर्मिति में पूर्व परम्परा का प्रभाव	50-77
चतुर्थ अध्याय -	आदिकाल, भक्तिकाल एवं रीतिकाल के विशेष संदर्भ में मुक्तिबोध का इतिहासबोध	78-103
उपसंहार		104-110
संदर्भ ग्रंथ सूची		111-119

भूमिका

हिंदी साहित्य में मुक्तिबोध प्रयोगवादी दौर के रचनाकार हैं। मुक्तिबोध अपनी रचनात्मक अभिव्यक्ति के कारण सर्वाधिक चर्चित रचनाकार रहे हैं। साहित्य, इतिहास, समाजशास्त्र एवं मनोविज्ञान आदि विषयों की दृष्टि उनकी रचना में स्पष्ट दिखाई देती है। वे साहित्य को जीवन से अलग नहीं स्वीकारते हैं और न ही जीवनविवेक से। साहित्य उनके लिए दृष्टिकोण भी है, विचार भी है और विवेक भी। प्रगतिशील समाज के लिए ज्ञान और संवेदना का होना आवश्यक है। ज्ञान व्यक्ति को तार्किक और प्रगतिशील बनाता है, वही संवेदना व्यक्ति को समावेशी दृष्टि प्रदान करती है, जिसमें जीवन के अंतर्भूत तत्व का तर्कसंगत विवेचन शामिल होता है। मुक्तिबोध की रचनाओं में इन पक्षों का भी उल्लेख है। कहानी, उपन्यास, डायरी, आलोचना कविता इत्यादि में उनके रचनात्मक व्यक्तित्व का व्यापक फलक दिखाई देता है।

मुक्तिबोध का साहित्यिक परिप्रेक्ष्य विविधताओं से भरा है। साहित्य, इतिहास, समाजशास्त्र मनोविज्ञान एवं राजनीतिशास्त्र इत्यादि विषयों का प्रसंग उनकी कविता, कहानी एवं उपन्यास में स्पष्टता से देखा जा सकता है।

मेरे शोध विषय का अधिकांश परिप्रेक्ष्य साहित्य और इतिहास से जुड़ा हुआ है। प्रस्तुत लघु शोध प्रबंध का शीर्षक है 'गजानन माधव 'मुक्तिबोध' का इतिहासबोध'। मुक्तिबोध के साहित्य को समझने के लिए यह मेरी कोशिश है। जिसमें मैंने उनकी कविता, कहानी, उपन्यास एवं आलोचना के प्रमुख किताबों का सहयोग लिया है।

प्रस्तुत लघु शोध प्रबंध चार अध्याय में विभक्त है, जिसका प्रतिपाद्य इस प्रकार है:-

प्रथम अध्याय में 'मुक्तिबोधः जीवन परिचय' है। इस अध्याय के अंतर्गत मुक्तिबोध के जीवन के आरंभिक दौर का परिचय दिया गया है। साहित्यकार की

पारिवारिक सामाजिक एवं व्यक्तिगत पृष्ठभूमि को यथासंभंव उल्लेख करने का प्रयास किया गया है। इसी अध्याय में मुक्तिबोध के जीवन के तमाम संघर्ष का उल्लेख उनके लिखे पत्रों के माध्यम से किया गया है।

द्वितीय अध्याय 'मुक्तिबोध एवं उनका आलोचनात्मक अवदान' है। इस अध्याय के अंतर्गत मुक्तिबोध के आलोचनात्मक अवदान के विषय में लिख गया है। मुक्तिबोध के लिए आलोचना एक प्रकार का साहित्यिक कर्म है। यह योगदान साहित्यिक एवं वैचारिक दोनों दृष्टियों से अभूतपूर्व है। इस अध्याय में लेखक के वैचारिक दृष्टि को उजागर करने का प्रयास किया गया है। आलोचना के क्षेत्र में मुक्तिबोध की वैचारिक दृष्टि तार्किक एवं विज्ञानसम्मत है।

तृतीय अध्याय 'मुक्तिबोध के इतिहासबोध की निर्मित में पूर्व परम्परा का प्रभाव' है। इस अध्याय में मुक्तिबोध के इतिहासबोध का उल्लेख किया गया है। इस अध्याय के अंतर्गत साहित्य एवं इतिहासबोध की निर्मित में पूर्व-परम्परा के प्रमुख आलोचक एवं साहित्येतिहासविद् का परिचय दिया गया है। इतिहासबोध की निर्मिति में पूर्व-परम्परा के स्थापित योगदान को अस्वीकारा नहीं जा सकता है। मुक्तिबोध का इतिहासबोध पूर्व-परम्परा से भिन्न है। आधुनिक समाज की निर्मिति के 'कार्य-कारण' को समझने के लिए इतिहास का ज्ञान आवश्यक है। इस अध्याय में साहित्य, समाज और इतिहास के बदलते परिप्रेक्ष्य में मुक्तिबोध का इतिहासबोध एवं चिंतन को उजागर किया गया है।

चतुर्थ अध्याय 'आदिकाल, भक्तिकाल एवं रीतिकाल के विशेष संदर्भ में मुक्तिबोध का इतिहासबोध' है। इस अध्याय में मुक्तिबोध का इतिहासबोध आदिकाल, भक्तिकाल एवं रीतिकाल के परिप्रेक्ष्य में क्या है? इसका उल्लेख किया गया है। साहित्य प्रत्येक कालखंड में बदलता है, यूँ कहें तो बदलते सामाजिक, राजनैतिक एवं आर्थिक

परिवेश के कारण साहित्य स्वतः बदलता रहता है। इस अध्याय में साहित्य और इतिहास के बदलते संदर्भ एवं तीनों युगों के वर्गीय चरित्र को भी व्याख्यायित किया गया है।

शोध-प्रबंध की पूर्णता का श्रेय मैं अपने शोध-निर्देशक डॉ. अरविंद सिंह तेजावत को देना चाहूँगी, जिन्होंने शोध-विषय से संबंधित संदेहों को दूर करने में सहयोग प्रदान किया एवं मौलिक शोध लिखने की प्रेरणा दी।

विभाग के सहायक प्राध्यापक डॉ. सिद्धार्थशंकर राय एवं डॉ. अमित मनोज का मैं आभार व्यक्त करती हूँ, जिन्होंने शोध के प्रति सकारात्मक उर्जा प्रदान किया।

मैं अपने परिवारजनों की शुक्रगुजार हूँ जिन्होंने शोध-कार्य के दौरान सर्वव्यापी महामारी कोविड-19 से बचा कर रखा एवं परिवार के समस्त जिम्मेदारियों से मुक्त और स्वतंत्र रखा। इसके अतिरिक्त मैं सभी वरिष्ठ शोधार्थी का धन्यवाद ज्ञापित करती हूँ, जिनका सहयोग रहा।

(ज्योति चन्द्रा)

अनुक्रमांक - 190972

हरियाणा केंद्रीय विश्वविद्यालय

जांट-पाली, महेंद्रगढ़-123031 (हरियाणा)

प्रथम अध्याय

मुक्तिबोध: जीवन परिचय

"जिन दिनों माधवराव जी श्योपुर, जिला मुरैना के सब-इन्स्पेक्टर थे, 13 नवम्बर 1917 की रात के दो बजे गजानन का जन्म हुआ। इससे पहले उनके दो लड़के अल्पायु में ही चले गए थे। देश के इतिहास में यह समय था, जब सामाजिक जागृति के साथ-साथ राजनैतिक आंदोलन भी जोर पकड़ने लगा था, लेकिन जागरण का वह रूप था, आंदोलन का वैसा स्वर देशी रियासतों में नहीं के बराबर था। सब-इन्स्पेक्टर की अपने इलाके में राजा जैसी छाप हुआ करती थी, वह नगर-कोतवाल कहलाता था।"[1]

मुक्तिबोध का जन्म 13 नवम्बर 1917 को श्योपुर ग्राम, जिला मुरैना (ग्वालियर) में हुआ। मुक्तिबोध के पिता माधवराव जी मुरैना जिला में सब-इन्स्पेक्टर थे। पिता के सब-इन्स्पेक्टर पद पर कार्यरत होने के कारण मुक्तिबोध का अध्ययन अलग-अलग स्थानों पर हुआ। उनका बचपन, विदिशा, अजमेर सरदारपुर में संपन्नता से बीता है। इसके संबंध में शरतचन्द्र मुक्तिबोध ने लिखा है- "बड़े भैया बहुत लाड़-प्यार में पले थे। पहले दो लड़के गुजर जाने से माता-पिता उनको आँख से ओझल नहीं होने देते थे। माँ का एक स्मरण यहाँ जोड़ रहा हूँ। तब भाईसाहब चार-पाँच साल के थे। पिताजी सब-इन्स्पेक्टर पुलिस थे। भाई साहब को तब थाने के बरामदे में बिठा दिया जाता। एक सिपाही दूसरे सिपाही को पीटने का बहाना करता। दूसरा मानो डरा हुआ भाईसाहब की शरण में आता और कहता- 'देखो रज्जन भैया, हमें मारा' और झूठ-मूठ का रोने लगता। रज्जन

भैया फौरन कुर्सी से नीचे कूद पड़ते और पिताजी की छड़ी उठाकर मारने वाले सिपाही के पीछे दौड़ पड़ते। वह सिपाही छिपता फिरता, फिर पकड़ में आ जाता, उनकी मार खाता। वर्दी में लैस पिताजी यह देख अपनी घनी-घनी मूँछों में से हँसते रहते।"[2] मुक्तिबोध बचपन से ही अंतर्मुखी थे।

मुक्तिबोध की माता पार्वतीबाई एक समृद्ध किसान परिवार से ताल्लुक रखती थी। वे हिंदी वातावरण में पली-बढ़ी थी। मुक्तिबोध को अपनी माँ से विशेष लगाव था। वे छठी कक्षा तक पढ़ी थीं। वे हरिनारायण आप्टे और प्रेमचन्द की रचनाओं से प्रभावित थीं। मुक्तिबोध का साहित्य के प्रति झुकाव अपनी माता से प्राप्त हुआ। इसीलिए इनकी रचनाओं में करूणा के साथ-साथ सामाजिक उत्पीड़न के खिलाफ आक्रोश भी है। मुक्तिबोध ने माँ पार्वतीबाई के संबंध में स्वयं लिखा है- "इस बात को वह नहीं जानती है कि प्रेमचन्द के पात्रों के मर्म का वर्णन-विवेचन करके वह अपने पुत्र के हृदय में किस बात का बीज बो रही है। पिताजी देवता हैं, माँ मेरी गुरू है। सामाजिक दंभ, स्वाँग, ऊँच-नीच की भावना, अन्याय और उत्पीड़न से कभी भी समझौता न करते हुए घृणा करना उसी ने मुझे सिखाया।"[3] मातृत्वसुलभ स्वभाव का बच्चों पर बड़ा व्यापक असर पड़ता है। मुक्तिबोध पर शैशवास्था से ही सामाजिक दंभ एवं शोषण के खिलाफ प्रतिरोध का भाव उत्पन्न हो गया। इसीलिए उनकी रचना में शासन के तंत्र को मुखरता से देखा जा सकता है। मुक्तिबोध की अंतर्मुखी चेतना का विकास साहित्य के माध्यम से ही हुआ।

मुक्तिबोध 1930 में उज्जैन के माधव कॉलेज से ग्वालियर बोर्ड की मिडिल परीक्षा में बैठे और अनुत्तीर्ण रह गए। 1931 में पुनः इस मिडिल परीक्षा में बैठे और उत्तीर्ण हुए। 1935 में इंटर की परीक्षा पास की। वे 1938 में आगरा विश्वविद्यालय से बी.ए. की परीक्षा में उत्तीर्ण हुए। उनका अकादमिक दौर भी उथल-पुथल भरा रहा है।

मुक्तिबोध का जन्मस्थान मालवा है। मुक्तिबोध के कवि व्यक्तित्व के निर्माण में यहाँ के वातावरण का अहम योगदान रहा है- "मालवे के विस्त्रीर्ण मनोहर मैदानों में से घूमती हुई क्षिप्रा की रक्त-भव्य साँझे और विविधरूप वृक्षों की छायाएँ मेरे किशोर कवि की आद्य सौन्दर्य-प्रेरणाएँ थीं। उज्जैन नगर के बाहर का यह विस्तीर्ण निसर्ग- लोक उस व्यक्ति के लिए जिसकी मनोरचना में रंगीन आवेग ही प्राथमिक हैं, अत्यंत आत्मीय था।"[4] मुक्तिबोध का आरंभिक छात्र-जीवन में ही कवि सौन्दर्य का बोध हो गया था। मुक्तिबोध के कवि सौन्दर्य का व्यापक चित्रण भी मालवा एवं फिर इन्दौर की धरती से ही प्रारंभ हुआ। इस संबंध में उन्होंने लिखा है- "इन्दौर में मित्रों के सहयोग और सहायता से मैं अपनी आंतरिक क्षेत्र में प्रविष्ट हुआ और पुरानी उलझन-भरी अभिव्यक्ति और अमूर्त करूणा छोड़कर नवीन सौन्दर्य क्षेत्र के प्रति जागरूक हुआ। यह मेरी आत्म-चेतना थी।"[5] इस 'आत्म-वक्तव्य' में मुक्तिबोध नवचेतन कवि के रूप में समय और स्थान के स्मृतियों को संजोये हैं। वे मालवा एवं इंदौर की चर्चा वीरेन्द्र कुमार जैन को लिखे पत्रों में भी किया है- "पिछले दिनों इन्दौर गया था। मकान और रास्ते, मोड़ और गलियाँ, धूप और पेड़ों के नीचे हरी-साँवली छाया, आपकी याद दिलाती

थीं। लगता था, हम उन दिनों एक अत्यन्त स्पृहणीय कमणीय सौन्दर्यलोक में रहते थे। क्या वे दिन वापिस नहीं आयेंगे।"[6]

मुक्तिबोध अनेक स्थानों पर नौकरी की। वे सर्वप्रथम बड़नगर में मिडिल स्कूल के अध्यापक की नौकरी की। एक अध्यापक के तौर पर वहाँ वे सिर्फ चार महीने की नौकरी की, ये वाकया सन् 1938 का है। मुक्तिबोध समझौतापरस्त व्यक्ति नहीं थे। उनमें शोषण एवं अन्याय के खिलाफ आवाज उठाने की प्रबल क्षमता थी। इसीलिए भी उनके जीवन में कष्टों का आना स्वाभाविक था। वे जीवन भर स्थानान्तर एवं पदान्तर की समस्या को झेलते रहे। इस संबंध में शरतचन्द्र मुक्तिबोध ने कहा है- "अपनी छोटी-छोटी इच्छाओं के भाईसाहब करीब-करीब कैदी ही थे। नौकरियाँ भी छोड़ी तो मुख्यतः अपनी इच्छा से। ऊपरी दबाव के कारण उन्हें छोड़ना एकदम आवश्यक हो गया हो ऐसा मुझे तो कम से कम नहीं मालूम।"[7]

मुक्तिबोध लगभग 1938 से नौकरी करना प्रारंभ किया। इस दौरान वे बढ़नगर, उज्जैन, शुजालपुर, कलकत्ता, बनारस इलाहाबाद, जबलपुर एवं नागपुर आदि स्थानों पर नौकरी की। इन सभी स्थानों पर मुक्तिबोध ने 'जनसामान्य' की पीड़ा को नजदीक से देखा था। वे बढ़नपुर, उज्जैन एवं शुजानपुर में अध्यापक के पद पर कार्य किए थे। इसके पश्चात् वे बनारस में 'हंस' कार्यालय में भी कार्य किए। जबलपुर के जैन हाईस्कूल में नौकरी की एवं यही कुछ दिन 'दैनिक जयहिंद' में कार्य भी किया। 1948 में नागपुर में सूचना एवं प्रकाशन विभाग में पत्रकारिता का भी कार्य किया। मुक्तिबोध के जीवन में 'अर्थ' का अभाव हमेशा

बना रहा। कभी किसी पठान से ब्याज लेकर जीवनयापन करते तो कभी किसी हिंदू साहूकार से। इस संबंध में उन्होंने पत्रों में भी उल्लेख किया है। जीवन की आर्थिक तंगी और अभाव ने मुक्तिबोध को और भी प्रखर कवि, उपन्यासकार एवं आलोचक बना दिया। इसका उल्लेख मुक्तिबोध ने जून 1957 में नेमिचन्द्र जैन के नाम लिखे पत्रों में किया है- "All India Radio की नौकरी मैं न छोड़ता, लेकिन Monthly Contract पर मैं भोपाल जाने के लिए तैयार न था। अगर आपको Government Department अथवा University में कोई अच्छी नौकरी दिखायी दे तो मुझे जरूर सूचित कीजिएगा। वैसे मुझे Lecturership की भी तलाश है, लेकिन उसमें पैसे इतने कम मिलते हैं यानि 150+30 कि अब प्रतीत होता है इतनी कम तनख्याह में मैं गतप्राण हो जाऊँगा। सब जगह एम.ए. फस्ट क्लास या डाक्टरेट माँगते हैं। मैं मात्र सेकेण्ड क्लास हूँ।"[8] वे जीवन पर्यंत नौकरी की तलाश में स्थानान्तरित होते रहे और आर्थिक समस्या से भी जुझते रहे। वे 'नया खून' पत्रिका के भी संपादक रहे हैं।

मुक्तिबोध का वास्तविक जीवन परिचय उनके लिखे पत्रों से उजागर होता है। उनके लिखे पत्रों में जीवन के तमाम आपाधापी सजीवता से उजागर हुआ है। उनका पत्राचार सबसे ज्यादा नेमिचन्द्र, जैन के नाम हैं। नेमिचन्द्र जैन और मुक्तिबोध के बीच स्नेहिल दोस्ती में शिकायत के साथ सप्रेम का भाव भी उजागर हुआ है- "I am so Sorry to have embarrassed you with prev. latter. Really, according to my habit I wrote many more to you and as usual they are lying in the dusty corners of my room like orphans."[9] मुक्तिबोध बराबर नेमिचन्द्र जैन को पत्र लिखते थे। उन पत्रों में उनके

जीवन, विचार एवं व्यक्तिगत समस्याओं का भी उल्लेख है- "गो मैं यह सोचता हूँ कि यह सब गलत है। दिन के बंधे हुए कार्य को अधिक बाँधकर करने के पक्ष में रखते हुए भी कामचोरी से दिली मुहब्बत टूट नहीं पाती। मैं मानता हूँ कि कर्त्तव्य ही सबकुछ है। पर उसके न करने का उत्तरदायित्व मानों मैं अपने ऊपर नहीं लेना चाहता। क्या जरूरी है कि कर्त्तव्य किया जाए, और उस समय आनेवाली आपकी याद को बाहर ही खड़ा रख मन के दरवाजे को बंद कर दिया जाए। मैं मानता हूँ कि कर्त्तव्य ही सबकुछ है। पर उसके न करने का उत्तरदायित्व मानों मैं अपने ऊपर नहीं लेना चाहता। क्या जरूरी है कि कर्त्तव्य किया जाए, और उस समय आनेवाली आपकी याद को बाहर ही खड़ा रख मन के दरवाजे को बंद कर दिया जाए। कर्त्तव्य के फलसफे की बात ज्यादा समझ नहीं आती।"[10] समाज गतिशील होता है और एक-एक व्यक्ति समाज का हिस्सा माना जाता है। प्रत्येक व्यक्ति का समाज के प्रति फलसफा होता है। मुक्तिबोध ने समाज और साहित्य के बीच व्यक्ति और साहित्यकार के फलसफे एवं कर्त्तव्य के भाव को उजागर किया है। उनका व्यक्तिगत जीवन काफी उतार-चढ़ाव से गुजरा है। आर्थिक परेशानियों से वे लगातार जुझते रहे हैं। इस स्थिति का वर्णन शरतचन्द्र मुक्तिबोध ने उनके जबलपुर वाले घर के विवरण के माध्यम से किया है- "त्रिपुरा गेट से घूमकर हमारा रिक्शा संकरी गलियों से गुजरने लगा। ऐसी पेचीदा और चमकदार घिनौनी गलियाँ। हमलोग तब प्लेग की बातें कर रहे थे। जबलपुर में जब प्लेग की केसेस हो गयी थी और शायद कुछ इन्हीं गलियों में भी हुई थी।

'बाबूसाब, प्लेग का इन्जेक्शन ले लिया?'

'नहीं, कुछ नहीं होता।'

'मैंने भी इन्जेक्शन नहीं लगवाया'- मैंने आवश्वत होकर कहा। लेकिन कुछ चिंता अवश्य थी। आसपास खासी मौत की महक आ रही थी। रिक्शा एक मारवाड़ी के घर के सामने रूक गया। दिन में भी गली में काफी अंधेरा था अँधेरे-छुप जाने से हम लोग तीसरी मंजिल की छत पर पहुँच गए।

'आ गया कमरा' - भाईसाहब ने संतोष से कहा। लेकिन कमरा था कहाँ? अटाला रखने का वह ऊपरी छप्पर था। एक पीला बीमार बल्ब पहले ही से जल रहा था। यहा भाईसाहब की गिरस्ती पड़ी हुई थी।"[11]

शरतचन्द्र मुक्तिबोध, गजानन माधव मुक्तिबोध के छोटे भाई थे। मुक्तिबोध से उनको काफी लगाव था। मुक्तिबोध के जीवन परिचय के विविध आयाम रहे हैं। पत्रों, डायरियों एवं कथाओं में भी उनके रचनात्मक व्यक्तित्व का परिचय मिलता है। उन्होंने नेमिचंद्र जैन, नामवर सिंह, शमशेर बहादुर, भारतभूषण अग्रवाल, वीरेन्द्रकुमार जैन आदि साहित्यकारों को पत्रों के माध्यम से जीवन और साहित्य के बदलते परिदृश्य पर अपने विचार अभिव्यक्त किए हैं। नेमिचन्द्र जैन को 26/10/1945 को लिखे पत्रों में अपने अभाव का परिचय दिया है। नेमिचन्द्र जैन उनके सबसे विश्वसत एवं सहृदय मित्र थे। मुक्तिबोध उनसे अपने जीवन के आंतरिक एवं बाह्य सुख-दुख जाहिर करते थे- "मेहनत करू तो लेखन से पैंसे मिल सकते हैं। इसमें संदेह नहीं। पर साहित्यिक श्रम जितना अधिक आवश्यक है उतना ही अभाव है समय का। दुनिया के सारे कार्यों से निवृत हो, थकी हुई पीठ

और बोझिल मास्तिष्क ले, टिमटिमाते कन्दील के धुँधले प्रकाश, में कलम चलने तो लगती है पर खुद कोसती हुई।"[12]

मुक्तिबोध गिरस्त जीवन की कठनाई से परिचित थे। जीवनयापन करने के लिए मूलभूत चीजों की आवश्यकता होती है। वे उस मूलभूत आवश्यकता से भी वंचित थे। घर-गिरस्ती और व्यक्तिगत जिम्मेदारी के बीच मुक्तिबोध एकांत सोच में पड़ जाते हैं- "परन्तु मेरी आँखों के सामने घर-गिरस्ती को देखकर काले सपने आया करते हैं। मैं वजन सम्हाल नहीं पाया; और हर महीने की तारीख के बाद दिवालियापन सताता रहता है- त्रुद्ध प्रेत-सा।"[13] मुक्तिबोध अपने पत्रों में बड़ी मुखरता से लिखते थे। आर्थिक अभाव व्यक्ति को नीरस बना देता है। इस अभाव से उबरने का प्रयत्न मुक्तिबोध लगातार करते है। कभी स्थान परिवर्तित कर तो कभी नौकरी में तब्दीली कर। उन्हें कभी भी इस समस्या का स्थायी समाधान नहीं मिला। धीरे-धीरे वैचारिक संघर्ष के साथ व्यक्तिगत संघर्ष भी बढ़ता ही गया। इस आर्थिक दलदल से वे बाहर आने का हमेशा प्रयास करते थे- "किन्तु आज सहसा मैं अपनी जगह आ गया था, क्षणभर के लिए ही सही, मैं अपने से चेतन हो उठा। मेरी ज्ञान-तृषा, सौन्दर्य भक्ति तथा मुक्त हृदय-दान तथा स्वानुकूल कर्मण्य-शक्ति का मानो मुझे, क्षणभर के लिए ही सही, बोध हो गया जिसकी आग अभी-अभी राख हो जाएगी। जिस जिन्दगी को जीने का मुझे आदेश मिला है, वह कुछ दूसरी ही थी। यह नहीं। परन्तु, फिर भी, यह चाहता हूँ कि मैं इस दलदल को भी पार कर जाऊँ। सचमुच मुझे जिन्दगी की तब्दीली की बहुत बड़ी जरूरत है।"[14]

व्यक्तिगत जीवन की तमाम ऊहापोह की स्थिति में मुक्तिबोध ने जीवन में जड़त्व को कभी नहीं स्वीकारा। वे अपनी रचनात्मक जीवन में भी अत्यंत संवेदनशील रहे हैं। उनकी रचनात्मक अभिव्यक्ति के विविध स्तर हैं। उन्होंने कहानी, उपन्यास, आलोचना एवं कविताओं में सामाजिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन को भी चित्रित किया है।

कहानी:-

मुक्तिबोध की कहानियों का गठन उस दौर के कहानीकार से बिल्कुल भिन्न हैं। मुक्तिबोध की प्रथम कहानी 'खलील काका' है, जो 5 अक्टूबर 1936 की रचित है, प्रकाशन की दृष्टि से 'आखेट' उनकी प्रथम कहानी मानी जाती है। 1936 का काल छायावाद का अवसान का काल था। इसी काल में प्रेमचंद की मृत्यु हुई। इन दोनों दृष्टियों से देखें तो कहानियों में प्रगतिशीलता का कथ्य रचनाओं में आना प्रारंभ हुआ। मुक्तिबोध भी 1936 में कहानीकार के तौर पर कदम रखा था। उनकी प्रमुख कहानियाँ इस प्रकार हैं-

1. खलील काका (1936)

मुक्तिबोध की आरंभिक रचना में आदर्शवादी विचार का भाव उजागर हुआ है। 1936 में लिखी गई 'खलील काका' कहानी में मातृविहीन पुत्र रसूल से अधिक केशव को स्नेह मिला है। यह स्नेह आदर्श के भाव को उजागर करता है, जो कि प्रेमचंद की रचनाओं में भी देखा गया है। "खलील देखने लगा इस

अँधकार में एक-एक चित्र-भुलाई हुई बातें। यह अन्धकार उन चित्रों पर पड़े परदों को उठानेवाला बना। उसकी विचारधाराएँ एकाएक जाग उठीं।"[15]

2. जिंदगी की कतरन (1948-58)

मुक्तिबोध मध्यवर्गीय जीवन के प्रति जितने सचेत है, उतने ही बड़े कटु आलोचक भी। 'जिंदगी की कतरन' कहानी में मुक्तिबोध मध्यवर्ग की सामाजिक रूढ़ि एवं हृदयहीन कुपरंपराओं का चित्रण किया है। इस कहानी के केन्द्र में 'निर्मला' और 'तिवारी' है। 'निर्मला' की हत्या भारतीय सामंती समाज में प्रत्येक स्त्री की हत्या है, जो कभी कुल के नाम पर तो कभी खानदान की हैसियत के नाम पर किया जाता है। मुक्तिबोध की जितनी संवेदना 'निर्मला' से है उतनी ही संवेदना 'तिवारी' से भी है- "मैं जानता था कि उसका मस्तिष्क और हृदय दमित और पीड़ित है। किंतु उससे उद्धार का कोई उपाय न था। गरीब बड़े भाई ने उसकी शादी उससे कुछ अच्छी स्थितिवाले घर में कर दी। यहीं से उसकी जिंदगी ने पलटा खाया। उस संयुक्त परिवार को खानदानियत का रोग था।'[16] सामंतवादी समाज में स्त्री को वस्तु स्वरूप समझा जाता है। 'निर्मला' की हत्या मुक्तिबोध की दृष्टि में भारतीय सामंती समाज के बदलते इतिहास को पुर्नव्याख्यायित करता है।

3. अँधेरे में (1948-58)

'अँधेरे में' कहानी का प्रकाशन हंस पत्रिका में हुआ था। इस कहानी की शुरूवात लेखक एक युवक की यात्रा से किया है, जो रात के बारह बजे ट्रेन से स्टेशन पर उतरा है। यह कहानी यात्रा-रिपोर्ताज प्रतीत होता है- "एक रात को बारह बजे, ट्रेन से एक युवक उतरा। स्टेशन पर लोग एक कतार में खड़े थे और

ज्यादा नहीं थे। इसलिए ट्रेन से नीचे आने में उसको ज्यादा कठिनाई हुई। स्टेशन पर बिजली की रोशनी थी, परन्तु वह रात के अँधियाले को चीर तम्बूनुमा घर हो गयी थी जिसमें बिजली के दीये जलते हों।"[17] इस कहानी में लेखक ने मध्यवर्गीय आत्मचेतना को रूपायित किया है। 'अँधेरे में' कहानी का नवयुवक सामाजिक स्थितियों एवं परिस्थितियों का आत्मचिंतन करता है। मध्यवर्गीय पलायनता को मुखरता से उजागर किया गया है। भारतीय समाज में मध्यवर्गीय मानसिकता की खामी भी है। मध्यवर्ग आत्मसंतोष की जड़ता से भी मुक्त नहीं होता है। 'अँधेरे में' कहानी सामाजिक भ्रष्टाचार को उजागर करता है। 'अँधेरे में' कहानी का नायक प्रगतिशील है। वह तमाम संकट का सामना करता है, लेकिन स्थितियों से समझौता नहीं करता है।

4. पक्षी और दीमक (1959)

'पक्षी और दीमक' कहानी की शुरूआत इस प्रकार होती है- "बाहर चिलचिलाती हुई दोपहर; लेकिन इस कमरे में ठंडा मद्धिम उजाला है। यह उजाला इस बन्द खिड़की की 'दरारो' से आता है। यह एक चौड़ी मुँडेरवाली बड़ी खिड़की है, जिसके बाहर की तरफ दीवार से लगकर, काँटेदार बेंत की हरी घनी झाड़ियाँ हैं।"[18] लेखक इस कहानी में छत्तीसगढ़ के मौसम-बेमौसम की हवाओं का जिक्र करते हैं और कहानी के कथ्य को केन्द्रित करते हुए पक्षी और दीमक के माध्यम से भ्रष्टाचार के तमाम तंत्र को व्याख्यायित करता है- "लेकिन दीमकें सिर्फ जमीन पर मिलती थीं। कभी-कभी पेड़ों पर जमीन से तने पर चढ़कर, ऊँची डाल तक,

वे अपना मटियाला लम्बा घर बना लेती। लेकिन, ऐसे कुछ ही पेड़ होते, और वें सब एक जगह न मिलते।"[19]

5. एक दाखिल दफ्तर साँझ (1948-58)

'एक दाखिल दफ्तर साँझ' कहानी का प्रकाशन 1968 में साप्ताहिक पत्र हिंदुस्तान में हुआ था। इस कहानी में भी लेखक ने मध्यवर्गीय लोगों के मानसिक स्थिति का चित्रण किया है। मध्यवर्गीय बाबू वर्ग समकालीन समय की जितनी बड़ी सामाजिक संकट है, उतनी ही तत्कालीन समय में थी। कहानी की शुरूआत लेखक ने कचहरी के वातावरण से होती है। जहाँ नीम, सेमल और इमली के बड़े-बड़े दरख्त खड़े हैं। लेखक ने रामेश्वर नामक पात्र से कहानी की पात्रात्मक सूचना देते हैं, जो शरीर से दुर्बल है। इस कहानी में अनेक पात्र हैं, लेकिन कहानी का केन्द्रबिंदु मिस्टर वर्मा के इर्दगिर्द ज्यादा घूमता है। मिस्टर वर्मा ही दफ्तर के नियम बताते हैं। कहानी में अवसरवाद के साथ-साथ चापलूस लोगों के चरित्र का खंडन किया है- "नौकरी में वर्मा साहब, कोई किसी का न दोस्त है, न दुश्मन। जब किसी पर आ बनती है तो कौन अपनी सुरक्षा की कीमत पर दूसरों की मदद करता है।"[20] डॉ. विजयमोहन सिंह के अनुसार- "दूसरों को अन्याय करने की छूट देना है, जिससे एक 'न्यस्त स्वार्थ' की प्रवृत्ति बनती है। 'रचनावली' में इस कहानी के दो तरह के अंत हैं, जो यदि सही हैं तो ये स्वयं मुक्तिबोध के भीतर के किसी गहरे अंतर्द्वंद को सूचित करते हैं कि किसी ऐसे आदमी को सहानुभूति दी जाए या नहीं? क्या फिर वह 'लौट' सकता है। कोई भी ऐसा आदमी।"[21] इस कहानी में लेखक ने मध्यवर्गीय संघर्ष से बचने वाले लोगों का चित्रण किया है।

रामेश्वर एवं मि. वर्मा के संवाद से साफ जाहिर होता है- "वर्मा ने व्यंग्य से मुसकराकर कहा, " 'प्रगतिवादी' इस शब्द से क्यों डरते हैं? मैं स्वयं प्रगतिवादी हूँ। एक नामहीन प्रगतिवादी।"

"मैं उस शब्द से नहीं डरता क्योंकि समय था जब मैं उस शब्द को अपना विशेषण मानता था।"[22]

6. उपसंहार (1950)

उपसंहार कहानी संभवतः 1950 के दशक में लिखी गयी कहानी है। इस कहानी में लेखक ने मध्यवर्गीय आर्थिक विषमता एवं उसकी मजबूरी का रूपायन किया है। गरीबी जन्मजात नहीं होती है।

यह आर्थिक असमानता के कारण फैलती है। मुक्तिबोध 'उपसंहार' कहानी में इस आर्थिक विद्रूपता का चित्रण रामलाल और सावित्री के जीवनशैली के माध्यम से किया है। मुक्तिबोध इस कहानी की रूपरेखा को आसपास के वातावरण से चित्रित किया है- "अस्त-व्यस्त बाल और उतना ही अस्त-व्यस्त सा स्वास्थ्य। एकदम बीमार और बेचैन छाया थी वह आँखों के आसपास मरे हुए निर्जीव काले वर्तुल और शरीर पर वह। मोटा होने पर भी रक्तहीनता की निर्जीव श्यामलता थी। मैली, फटी हुई-सी मरदानी धोती पहने थी वह।"[23] इस कहानी में रामलाल और सावित्री की दारूण स्थिति का चित्रण है। सावित्री अपने बच्चों को झूठी दिलासाएँ देती है। रामलाल की गरीबी का चित्रण लेखक ने इस प्रकार किया है- "वास्तविकता यह थी कि रामलाल अफसर नहीं, जण्डेल नहीं, अखबार का मालिक नहीं, बल्कि एक दरिद्र व्यक्ति हो रहा था, जो एक-एक पैसे के लिए मारा-

मारा फिरता है। पति-पत्नी दोनों के सामने आशा के स्वप्न-चित्र न थे, मूर्त-दृश्य आशा के महल-किसी भी तरीके से गुजारा हो, बीमार को दवा मिले और खाने को रोटी और तन को कपड़ा। उसकी दरिद्रता की ओर ऊँगली उठानेवाले समाज को बहुत दूर छोड़ वे दोनों इधर आ बसे थे।"[24]

7. क्लॉड ईथरली (1959)

मुक्तिबोध इस कहानी में लिखते है- " क्लॉड ईथरली हमारे यहाँ भले ही देव रूप में न रहे, लेकिन आत्मा की वैसी बेचैनी रखने वाले लोग तो यहाँ रह ही सकते हैं।"[25] इस कहानी में लेखक अस्तित्व के संकट का चित्रण किए हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् मानव समाज अनेक प्रकार की सामाजिक एवं राजनीतिक संकट का सामना कर रहा इस कहानी में लेखक ने अंतरात्मा और अस्तित्व दोनों के संकट को उजागर करता है "उसने भौंहे समेट लीं। मेरी आँखों में आँखे डालकर उसने कहना शुरू किया, "जो आदमी आत्मा की आवाज कभी-कभी सुन लिया करता है और उसे बयान करके उससे छुट्टी पा लेता है, वह लेखक हो जाता है।..... लेकिन जो आदमी आत्मा की आवाज जरूरत से ज्यादा सुन करके हमेशा बेचैन रहा करता है और उस बेचैनी में भीतर के हुक्म का पालन करता है, वह निहायत पागल है। पुराने जमाने में संत हो सकता है। आजकल उसे पागलखाने में डाल दिया जाता है।"[26] इस कहानी के संदर्भ में अनेक आलोचकों की अलग-अलग राय है। डॉ. नामवर सिंह ने कहा है- 'इतिहास के विराट परिप्रेक्ष्य में मनुष्य की नियति आज क्या है, अगर उसे देखना हो तो 'क्लाड ईथरली' को देखें।

'क्लॉड ईथरली' वस्तुतः अंतर्राष्ट्रीय पूँजीवाद का पोल खोलती है। इस पूँजीवादी व्यवस्था में प्रत्येक तंत्र नाभिनालबद्ध है।

8. काठ का सपना (1963)

'काठ का सपना' कहानी 1963 में कल्पना पत्रिका में छपी थी। इस कहानी में लेखक समाज और व्यक्ति की आंतरिक मनोस्थिति का चित्रण किया है। काठ का सपना व्यक्ति के संवेदनात्मक मनोभूमि के उतार-चढ़ाव, सामजंस्य एवं समझौता को उजागर करता है, जो कि न चाहते हुए भी मध्यवर्ग को इसकी संगति करनी पड़ती है। इस कहानी का थका, हारा और निराश पिता स्वप्न देखता है- "...दोनों स्त्री-पुरुष के जीवन पर विराम का पूर्ण चिन्ह लग गया है, काठ हो गये हैं। बाढ़ आती है। किनारे पर पड़े हुए काठों को बहाकर ले जाती है। जल-विप्लव हैं काठ बह जाते हैं, फिर भी वे प्राणहीन काठ आपस में गुँथे हुए बहे जा रहे हैं।"[27] इस कहानी में लेखक ने पिता की अक्षमता एवं हताशा का चित्रण किया है। इस कहानी में व्यक्ति की 'निष्क्रियता' और 'अभाव' दोनों का सजीव चित्रण हुआ है, जिसमें पिता की बेवसी की भी झलक है और पुत्री सरोज की मानसिक स्थिति की भी।

इसके अतिरिक्त भी मुक्तिबोध ने अनेक कहानियों की रचना की है। जैसे 'सतह से उठता आदमी', 'जलना', 'समझौता', 'प्रश्न', 'मोह और मरण' और 'मैत्री की माँग' आदि है। इन सभी कहानियों में लेखक ने समाज की आर्थिक, राजनीतिक एवं पूँजीवादी व्यवस्थाओं का चित्रण सूक्ष्मता से किया है।

उपन्यास

विपात्र (1963-64 संभावित)

विपात्र उपन्यास ज्ञानोदय पत्रिका में प्रकाशित हुआ है। यह लघु उपन्यास आधुनिक काल की सामाजिक स्थिति एवं वर्गीय समाज के सामाजिक यथार्थ को भी उद्घाटित करता है। इस उपन्यास की शुरूआत मुक्तिबोध ने प्राकृतिक वातावरण से किया है। यह प्रतीकात्मक उपन्यास है। मुक्तिबोध ने विद्याकेन्द्र को केन्द्रीकृत कर समकालीन व्यवस्था पर प्रहार किया है, जिसमें डायरेक्ट बॉस पूँजीपति का प्रतिनिधि है, जिसने नयी पीढ़ी को खरीद लिया है। दूसरा वर्ग अवसरवादी मध्यवर्गीय समाज है, जिसका प्रतिनिधि रावसाहब कर रहे हैं लेखक ने रावसाहब का परिचय इस प्रकार दिया है- "राव साहब इस वक्त जिस सीढ़ी पर हैं उसकी अगली सीढ़ी का नक्शा बराबर ध्यान में रखते थे। उस अगली सीढ़ी के तरकीबें भी जानते थे और अपना मुँह हमेशा उसी तरफ रखते। वे सिर्फ मौजूदा जरूरत के लायक पढ़ लिया करते। सामाजिक वार्तालाप में पिछड़ जाने के भय पर विजय प्राप्त करने के लिए वे दो-चार अखबार भी रोज देख लिया करते। प्रायः चुप रहते और खूब मेहनत करते। महाकाव्य के धीरोदात्त नायक की भाँति ही धर्म, बुद्धि, कर्त्तव्यपरायणता और दयाशीलता की सुशिल्पित मुर्ति थे। लेकिन, काम पड़ने पर, अवसर के अनुसार पवित्र नियमों से इधर-उधर हटकर भी अपना मतलब साध ही लेते।"[28] लेखक ने रावसाहब के चरित्र को अवसरवादी, पदलिप्सा भ्रष्टाचारी और समझौतापस्त व्यक्ति के रूप में अभिव्यंजित किया है, जो बाह्य दृष्टि से उदार हैं, लेकिन पीठ पीछे बुराई भी करता है। विपात्र उपन्यास में जगत सिंह, थनावत, बॉस मुख्य पात्र हैं, जो इस उपन्यास के विविध वैचारिक दृष्टि को उजागर करता है।

'विपात्र' उपन्यास आधुनिक समाज की अधिकांश व्यवस्थाओं का चित्रण करती है, जिसमें मानवीय मूल्य का ह्रास प्रतीत होता है। समाज का संबंध मनुष्य के सामूहिकता में निहित है। एकांत कुछ क्षण के लिए ठीक हैं, लेकिन जीवनपर्यंत मानव एक दूसरे से अलग नहीं रह सकता। लेखक ने कहानी के विकास में प्रतीक, बिंब रूपक इत्यादि का यथानुकूल प्रयोग किया है। मुक्तिबोध ने प्रत्येक पात्र को मनोविश्लेषणात्मक तरीके से रूपायित किया है। आज का आधुनिक समाज यांत्रिकी समाज है, जिसमें पूँजी का महत्त्व भी है और वर्चश्व भी। लेखक इन दोनों स्तर को सूक्ष्मता से उजागर किया है- "मुझे इस बातचीत से वितृष्णा हो उठी। मुझे बिजिनेस नहीं दीखता था, वरन् मानव-समुदाय दीखते जो विशेष-विशेष स्वार्थों और हितों की दिशा में कार्यशील थे। मुझे मानव-समुदायों खास व्यक्ति और उनके व्यक्तित्व, उनके परस्पर-संबंध और उनकी जीवन-प्रणाली दीखती थी।"[29]

कविता

मुक्तिबोध मूल रूप से कवि के रूप में प्रसिद्ध हैं। उनकी कविता का बहु-वैविध्य संसार है। मुक्तिबोध के दो काव्य संकलन हैं-

1. चांद का मुँह टेढ़ा - 1964
2. भूरी-भूरी खाक धूल - 1980

इन दोनों संकलन में मुक्तिबोध का कवि-व्यक्तित्व प्रखरता से उजागर हुआ है। इस संकलन के कविताओं में मुक्तिबोध 'तारसप्तक के कवि' के रूप में नहीं,

अपितु सामाजिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक रूप से अधिक प्रबुद्ध एवं विचारशील नजर आते हैं। उनकी अधिकांश रचनाओं में भारतीय समाज के तमाम विद्रूपता एवं विषमता उजागर हुआ है। उनकी रचनाओं में सामाजिक असमानता, पूँजीवाद, आर्थिक विषमता, पाखंड, भ्रष्टाचार, राजनैतिक अवसरवादिता मध्यवर्गीय जड़ता इत्यादि संदर्भ अभिव्यंजित हुआ है। मुक्तिबोध की कविताओं में उक्त संदर्भ प्रखरता से लिखा गया है, जहाँ लेखक का आत्मचिंतन सामंती-पूँजीवादी व्यवस्था के प्रति विद्रोह, साफ-साफ जाहिर करता है। उनकी कविताओं के संदर्भ में रमेशकुंतल मेघ ने लिखा है- "मुक्तिबोध के जीवन और जीवनदर्शन के विचार और अनुभव का इतना गहरा मिलाप है, यथार्थ और फंतासी का इतना ऊँचा अभिषेक है, भाषा और पुकार का इतना तादात्म्य है कि उनमें तुलसी और निराला के बाद दूसरा वह आत्मकथात्मक कवि पातें जो आत्मविश्लेषण और आत्मभर्त्सना ही करता है, आत्मगौरवान्वयन और आत्मप्रचार कतई नहीं। उनके जीवनदर्शन के शब्द-शब्द, वाक्य-वाक्य और पद-पद से मार्क्सवाद की पथरीली-चमकीली दृष्टि है।"[30] उनकी कविताओं में उक्त विवेचन भी देखा जाता है। उनकी प्रसिद्ध कविताओं का कुछ अंश इसप्रकार हैः-

ब्रह्मराक्षस (1957)

"समुरी - बैबिलोनी जन-कथाओं से
मधुर वैदिक ऋचाओं तक
व तब से आज तक के सूत्र
छन्दस मन्त्र, थियोरम
सब प्रमेयों तक

कि मार्क्स, एंजेल्स, रसेल, टॉरन्बी

कि हीडेगर व स्पेग्लर,सार्त्र, गाँधी भी

सभी के सिद्ध-अन्तों का

नया व्याख्यान करता वह

नहाता ब्रह्मराक्षस, श्याम

प्राक्तन बावड़ी की उन धनी गहराईयों में शून्य।"[31]

मुक्तिबोध इस कविता में ब्रह्मराक्षस को सामान्य ब्राह्मण के रूप में व्याख्यायित नहीं किया है, अपितु बुद्धिजीवी प्रेत-आत्मा के रूप में अभिव्यंजित किया है।

अँधेरे में (1964)

"इसीलिए मैं हर गली में

और हर सड़क पर

झाँक-झाँक देखता हूँ हर एक चेहरा,

प्रत्येक गतिविधि

प्रत्येक चरित्र

वह हर एक आत्मा का इतिहास

हर एक देश व राजनीतिक स्थिति और परिवेश

प्रत्येक मानवीय स्वानुभूत आदर्श

विवेक-प्रक्रिया, क्रियागत परिणति।।

खोजता हूँ पठार... पहाड़..... समुन्दर

जहाँ मिल सके मुझे

मेरी वह खोयी हुई
परम अभिव्यक्ति अनिवार
आत्म-सम्भव।"[32]

'अँधेरे में' कविता मुक्तिबोध की बौद्धिक प्रखरता को उजागर करता है, जिसमें भारतीय राजनीति की विद्रूपता, लोकतांत्रिक व्यवस्था बनाम तानाशाही व्यवस्था, इतिहास एवं इतिहासबोध के अधिकांश पक्षों का भी उल्लेख हुआ है। यह कविता शासन-व्यवस्था के नाभिनालबद्ध तंत्र का उल्लेख करता है। जिसमें भय, शंका, एवं विद्रोह का स्वर है। मुक्तिबोध इस कविता में जनसामान्य की स्थिति का भी चित्रण किए हैं। आधुनिक पूँजीवादी व्यवस्था का वर्गीय चरित्र भी प्रमुखता से उजागर हुआ है।

चाँद का मुँह टेढ़ा है (1964)

"नगर के बीचोबीच
आँधी रात... अँधेरे की काली स्याह
शिलाओं से बनी हुई दिवालों के घेरों पर,
अहातों के काँच-टुकड़े-जमे-हुए
ऊँचे-ऊँचे कन्धों पर, सिरों पर
चाँदनी की फैली हुई सँवलाई झालरे।
कारखाना-अहाते के उस पार
कलमुँही चिमनियों के मीनार
उद्गार-चिन्हाकार।

मीनारों के बीचोंबीच चाँद का है टेढ़ा मुँह

लटका,

मेरे दिल में खटका...

कहीं कोई चीख कहीं बहुत बुरा हाल रे!!

अजीब है।"[33]

मुक्तिबोध इस कविता में सामंती एवं पूँजीवाद व्यवस्था के शोषण तंत्र को उजागर किया है। लेखक इस कविता में शोषित समाज की वस्तुस्थिति का चित्रण किया है। जिसमें मजदूर का पोस्टर शोषणतंत्र के खिलाफ प्रतिरोध को दर्शाता है।

यह प्रतिरोध बरगदनुमा पूँजीवादी व्यवस्था के खिलाफ है, जिसकी जड़े दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है, जिसमें सामंत और शासन दोनों का सहयोग प्राप्त है। यह कविता इन तमाम तंत्र पर व्यंग्य एवं प्रहार करती प्रतीत होती है।

इसके अतिरिक्त मुक्तिबोध ने अनेक कविताओं की रचना की हैं, जिसमें सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक एवं पूँजीवादी व्यवस्था के खिलाफ प्रखर स्वर विद्यमान हैं। जैसे-

1. पूँजीवादी समाज के प्रति
2. शब्दों का अर्थ जब
3. एक भूतपूर्व विद्रोही का आत्म-कथन
4. दिमागी गुहान्धकार का ओराँग-उटाँग

5. भूल-गलती इत्यादि।

आलोचना

मुक्तिबोध की आलोचना अन्य आलोचकों की तुलना में अधिक वैज्ञानिक एवं तर्कसम्मत है। उन्होंने आलोचना के पूर्व परंपरा से अलग रचना एवं आलोचना की तार्किक व्याख्या प्रस्तुत की है आलोचना समाज को दिशा प्रदान करता है। यह दिशा इस बात पर निर्भर करती है कि आलोचना का आयाम कितना तार्किक एवं वैज्ञानिक है। छायावाद के अवसान के बाद प्रगतिवाद का उदय हुआ, जिसमें रचनाकार के कथ्य और शिल्प दोनों में परिवर्तन देखा गया। मुक्तिबोध की आलोचना में रचना के सतही पक्ष, उसकी पक्षधर्मिता एवं वैचारिक दृष्टि प्रमुखता से उजागर हुआ है। उनकी प्रमुख आलोचनात्मक पुस्तक इस प्रकार हैं-

1. कामायनी: एक पुनर्विचार
2. भारत: इतिहास और संस्कृति
3. नई कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबंध
4. नए साहित्य का सौंदर्यशास्त्र
5. एक साहित्यिक की डायरी

मुक्तिबोध की उपर्युक्त पुस्तक में साहित्य, समाज, इतिहास, राजनीति इत्यादि का विवेचन है। लेखक का इतिहासबोध अन्य आलोचकों की तुलना में

अधिक तथ्यपरक है। वे साहित्य को जीवन मानते हैं, और जीवनविवेक भी। इसीलिए उनकी रचनात्मक अनुभूति में संघर्ष भी है और संवेदना भी, ज्ञान भी और बोध भी। उन्होंने ज्ञान एवं बोध की असीमित परिसीमा को जीवन और व्यवहार के दायरे में भी प्रयोग किया है। मुक्तिबोध जीवनपर्यंत आर्थिक अभाव में गुजारे। शासन, समाज और सत्ता के शोषणकारी तंत्र के खिलाफ आवाज भी बुलंद किए। उनकी रचनाओं में संघर्ष का पर्याय सिर्फ बाह्य संघर्ष ही नहीं है, अपितु आंतरिक भी है। यह आंतरिक संघर्ष व्यक्ति और रचनाकार के आत्म-परिष्कार को दर्शाता है।

मुक्तिबोध का संपूर्ण जीवन इस बात का पूख्ता सबूत है, जो उन्होंने जीया, भोगा और वैचारिक रूप में अभिव्यक्ति किया है। उनके साहित्य एवं समाजदर्शन के केन्द्र में 'जन' का भाव है, जिसका सरोकार समाज के समावेशी पक्ष को व्याख्यायित करता है। उनके साहित्य के मूल तत्व में समन्वय के साथ-साथ जीवनमूल्य के तमाम जीवनादर्श भी हैं, जो एक समावेशी समाज के निर्माण में सहायक सिद्ध होगा।

मुक्तिबोध अपने जीवन के कठिन सामाजिक, राजनैतिक एवं वैचारिक संघर्ष को सहर्ष स्वीकारा भी और शासन सत्ता और समाज के मनगढ़ंत पाखंड शोषण इत्यादि का प्रतिरोध भी किया। जीवन के अंतिम क्षण वे राजनांदगांव में बिताएं। शारीरिक दुर्बलता एवं बीमारी के कारण वे अस्वस्थ रहने लगे। 15 दिसम्बर 1964 को मुक्तिबोध का इण्डियन मेडिकल इन्स्टीट्यूट दिल्ली में देहावसान हो गया। साहित्य जगत का एक प्रखर, कवि, आलोचक एवं कहानीकार

का शारीरिक अंत तो हो गया, लेकिन ऐसी वैचारिक दृष्टि, वैज्ञानिक सोच, जो आज भी पाठक के लिए प्रेरणाश्रोत है।

संदर्भ

1. गौतम, लक्ष्मण दत्त; गजानन माधव मुक्तिबोध; विद्यार्थी प्रकाशन, वैस्ट आजादनगर, दिल्ली; संस्करण: 1972, पृ. सं.- 7
2. वही, पृ. सं.- 10
3. जैन, नेमिचन्द्र; मुक्तिबोध रचनावली (खंड-5); राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण: 1986, तीसरी आवृत्ति:2011, पृ. सं.- 429
4. वही, पृ. सं.- 265
5. वही, पृ. सं.- 265
6. जैन, नेमिचंद्र; मुक्तिबोध रचनावली (खण्ड-6); राजकमल प्रकाशन दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण: 1986, पृ. सं.- 344
7. गौतम, लक्ष्मण दत्त; गजानन माधव मुक्तिबोध; विद्यार्थी प्रकाशन, वैस्ट आजादनगर, दिल्ली; संस्करण: 1972, पृ. सं.- 14
8. जैन, नेमिचन्द्र; मुक्तिबोध रचनावली (खण्ड-6); राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण: 1986, पृ. सं.- 324

9. वही, पृ. सं.- 251

10. वही, पृ. सं.- 226

11. गौतम, लक्ष्मण दत्त; गजानन माधव मुक्तिबोध विद्यार्थी प्रकाशन, वैस्ट आजादनगर, दिल्ली; संस्करण: 1972, पृ. सं.- 9

12. जैन, नेमिचन्द्र; मुक्तिबोध रचनावली (खण्ड-6); राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण: 1986, पृ. सं.- 228

13. वही, पृ. सं.- 228

14. वही, पृ. सं.- 230-231

15. जैन, नेमिचन्द्र; मुक्तिबोध रचनावली (खण्ड-3); राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण: 1986, पृ. सं.- 15

16. वही, पृ. सं.- 73

17. वही, पृ. सं.- 76

18. वही, पृ. सं.- 141

19. वही, पृ. सं.- 149

20. वही, पृ. सं.- 55

21. सिंह, डॉ. विजय मोहन; आज की कहानी; राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली; संस्करण: 1983, पृ. सं.- 29-30

22. जैन, नेमिचन्द्र; मुक्तिबोध रचनावली (खण्ड-3); राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण: 1986, पृ. सं.- 61

23. वही, पृ. सं.- 89

24. वही, पृ. सं.- 91

25. वही, पृ. सं.- 160

26. वही, पृ. सं.- 155

27. वही, पृ. सं.- 173

28. वही, पृ. सं.- 206

29. वही, पृ. सं.- 228

30. गौतम, लक्ष्मण दत्त; गजानन माधव मुक्तिबोध; विद्यार्थी प्रकाशन, वेस्ट आजादनगर दिल्ली; संस्करण: 1972, पृ. सं.- 251

31. शास्त्री, त्रिलोचन (संपा.); मुक्तिबोध की कविताएँ; साहित्य अकादमी, रवीन्द्र भवन, 35, फिरोजशाह मार्ग, नई दिल्ली; संस्करण: 1991, पृ. सं.- 67

32. वही, पृ. सं.- 64

33. वही, पृ. सं.- 170

द्वितीय अध्याय

मुक्तिबोध एवं उनका आलोचनात्मक अवदान

आधुनिक हिंदी साहित्य में मुक्तिबोध को जनवादी कवि एवं आलोचक माना जाता है। उनका आलोचनात्मक अवदान जनसरोकारात्मक पक्ष के लिए प्रतिबद्ध है। प्रत्येक साहित्यकार अपनी रचनाप्रक्रिया के वैकल्पिक पक्ष के विषय में चयन करते हैं। मुक्तिबोध का 'चयन' साहित्य और समाज के बनते-बिगड़ते संबंध का 'कार्य-कारण' संदर्भ के तार्किक पहलू को उजागर करता है। इसीलिए उनकी आलोचनात्मक रचना-प्रक्रिया अन्य आलोचकों की तुलना में सारगर्भित, तार्किक एवं वैज्ञानिक हैं।

छायावाद एवं प्रगतिवाद के अवसान के बाद साहित्य में एक नया दौर आया जिसे 'प्रयोगवाद' कहा गया। सन् 1943 में हिंदी के सात कवियों का संकलन 'तारसप्तक' नाम से प्रकाशित हुआ। इनमें सात कवियों की सूची इसप्रकार हैं-

(क) 'तारसप्तक' (1943) - 1. अज्ञेय, 2. गजानन माधव मुक्तिबोध, 3. गिरिजा कुमार माथुर, 4. प्रभाकर माचवे, 5. नेमिचंद्र जैन, 6. भारतभूषण अग्रवाल, 7. रामविलास शर्मा

(ख) 'दूसरा सप्तक' (1951) - 1. भवानीप्रसाद मिश्र, 2. शकुन्तला माथुर, 3. हरिनारायण व्यास, 4. शमशेर बहादुर सिंह, 5. नरेशकुमार मेहता, 6. रघुवीर सहाय, 7. धर्मवीर भारती

(ग) 'तीसरा सप्तक' (1959) - 1. प्रयागनारायण त्रिपाठी, 2. कीर्ति चैधरी, 3. मदन वात्स्यायन, 4. केदारनाथ सिंह, 5. कुँवरनारायण, 6. विजयदेव नारायण साही, 7. सर्वेश्वरदयाल सक्सेना।

तारसप्तक के संपादक की हैसियत से 'अज्ञेय' ने इन्हें 'राहों का अन्वेषी' कहा है। गजानन माधव मुक्तिबोध भी इसी दौर के कवि एवं आलोचक हैं। उनकी प्रमुख रचना इस प्रकार हैं-

कविता: 'तारसप्तक', 'चाँद का मुँह ठेढ़ है', (1964) 'भूरी-भूरी खाक धूल', (1980)

उपन्यास: विपात्र (1970)

कहानी:

(1) काठ का सपना (1967)

(2) सतह से उठता आदमी (1971)

आलोचना: 'कामायनी: एक पुनर्विचार', 'भारत: इतिहास और संस्कृति', 'नई कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबंध', 'नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र', 'समीक्षा की समस्याएँ', 'एक साहित्यिक की डायरी'।

मुक्तिबोध के लगभग इन समस्त रचनाओं में जनपक्ष का उद्बोधन हुआ है। वे सतही तौर पर जनवादी लेखक हैं। वैचारिक दृष्टि से वे प्रगतिशील मार्क्सवादी साहित्यिक विचारधारा से प्रभावित हैं, लेकिन रचनाकर्म में 'स्वविवेक' के भी पक्षधर हैं। स्वविवेक से तात्पर्य है- विचारधारा से परे साहित्यिक एवं जनवादी

पक्षधर्मिता एवं प्रतिबद्धता। मुक्तिबोध इन दोनों संदर्भों में साहित्यिक एवं राजनीतिक विचारक के रूप में सजग एवं सचेत आलोचक हैं। उनकी रचना-प्रक्रिया के केन्द्र में मानव समाज एवं उसके जनसरोकारात्मक पक्ष का विवेचन अन्य आलोचकों की तुलना में अधिक प्रखर, सारग्रभित एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण से हुआ है। आधुनिक मानव समाज के विकास में 'चिंतन' एवं 'तर्क' की प्रधानता रही है। मुक्तिबोध 'चिंतन' एवं 'तर्क' के वैज्ञानिक एवं विश्वात्मक कसौटी को प्रमुखता से शब्दबद्ध किया है- "युग और समय के बंधन से ऊपर कला की अपील होते हुए भी यह स्वयं सिद्ध है कि उसका रूप एवं विकास बहुत अंशों में समय के द्वारा हुआ है। कला सब समय के लिए और विश्वात्मक होते हुए भी वह अपने समय और जन्मस्थान (यानी देश) से विच्छिन्न नहीं हो सकती।"[1] प्रत्येक युग की कला युगीन संदर्भ को अभिव्यंजित करती है। वह समय और समाज के सरोकार से अलग नहीं हो सकती।

मुक्तिबोध ने कला के विश्वात्मक रूप के परिवर्तनकारी पक्षों का उल्लेख किया है- "एकदेशीयता जब कला की सीमा रह जाती है, यानी उसकी अपील जब उसके आगे बढ़ने नहीं पाती, तब वह मर जाती है।"[2] कला की जीवंतता उसके सामाजिक एवं सांस्कृतिक प्रसार से प्रगाढ़ होता है। इसीलिए एक संवेदनशील कलाकार की कला समाज के किसी-न-किसी उद्देश्य को रेखांकित करता है। इस संदर्भ में रामधारी सिंह 'दिनकर' के विचार द्रष्टव्य हैं- "कवि-कल्पना और सामाजिक जीवन के बीच सामंजस्य स्थापित किए बिना साहित्य आयुष्मान नहीं हो सकता। छोटी-छोटी, क्षणिक और हलकी भावनाओं का गीत-प्रणयन भी अपनी जगह मूल्य रखता है, किंतु कलाकारों में श्रेष्ठ तो वही गिना

जाएगा जो जीवन के किसी महान प्रश्न पर महान रूप से कला का रंग छिड़क सके। सच तो यह है कि ऊंची कला कोशिश करने पर भी अपने को नीति और उद्देश्य के संसर्ग से बचा नहीं सकती, क्योंकि नीति और लक्ष्य जीवन के प्रहरी हैं और कला जीवन का अनुकरण किए बिना जी नहीं सकती। चूंकि जीवन-मंथन कलाकार का स्वभाव है और उसका जीवन कल्पना से उद्वेलित होकर उसकी ओर उन्मुख रहता है जो सुंदर और महान है, इसलिए उच्च कला की सभी कृतियों में प्रवेश पाने के लिए नीति अपना मार्ग आप ढूंढ लेती है, उसे कलाकार के सम्मान की प्रतीक्षा नहीं रहती।"[3] कला का उद्देश्य समाज को गतिशीलता प्रदान करना है। क्योंकि इससे समाज में जीवंतता बना रहता है।

साहित्य जीवन के विविध भावात्मक एवं कलात्मक पक्षों का विश्लेषण करता है। इन दोनों पक्षों का खास दृष्टिकोण भी होता है। मुक्तिबोध साहित्य में दृष्टिकोण को महत्वपूर्ण स्थान दिए हैं- "साधारणतया, साहित्य के दो पहलू रहे हैं। एक तो वह जिसमें मनोरंजन हो, और वह जिससे हम अधिक मानवीय होते चलें। पहला केवल मनोरंजन ही मनोरंजन है, उसके आगे कुछ नहीं। और दूसरा किसी आदर्श को लेकर चलता है।"[4] मुक्तिबोध ने साहित्य एवं उसके दृष्टिकोण की पक्षधार्मिता के विषय में अपने विचार अभिव्यक्त किये हैं। मनोरंजनकपरक साहित्य से जनता में मनोरंजन की अभिव्यक्ति होती है, जिसका प्रभाव जनता पर तात्कालिक होता है। आदर्शपरक साहित्य किसी न किसी आदर्श और विचारधारा को अभिव्यक्त करती है। प्रेमचंद का आदर्श भारतेंदु के आदर्श से भिन्न है। इसीलिए साहित्य में युग एवं परिवेश की आलोचना को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। प्रेमचंद ने 'साहित्य में समालोचना' निबंध में लिखा है- "साहित्य में

समालोचना का जो महत्व है उसको बयान करने की जरूरत नहीं। सद्साहित्य का निर्माण बहुत गंभीर समालोचना पर ही मुनहसर है।"[5]

मुक्तिबोध, साहित्य और आलोचना के संदर्भ में 'दृष्टिकोण' को प्रमुख स्थान देते हैं। मनोरंजन और आदर्श दो अलग पहलू है, जो समाज में हमेशा से मौजूद रहा है। लेकिन 'मानवी समाज' के आदर्श एवं उसके वैचारिक पक्ष का भी होना आवश्यक है। 'मानवीयता' प्रत्येक समाज के जीवनमूल्य एवं उसके आदर्शात्मक विकास को लेकर चलता है। इसीलिए इसकी सार्वभौमिकता बनी रहती है। साहित्य में आदर्श का संदर्भ साहित्यकार की साहित्यिक दृष्टि को उजागर करती है। मुक्तिबोध के अनुसार- "जब भावना-प्रधान प्राणी बाह्य वास्तविकता की ओर मुड़ता है, और अपनी सहज ईमानदारी से वशीभूत होकर उसके प्रति अपने को जिम्मेदार ठहराता है, तभी से उस साहित्य की उत्पत्ति है जिसे हम आदर्शवादी साहित्य कहते हैं, क्योंकि वह जीवन पर सोचने लगता है, जीवन की ट्रेजेडीज उसके विरोध और विसंगतियाँ उसके मन में बैठ जाती हैं।"[6]

प्रत्येक युग विशेष की खास आलोचनात्मक प्रवृत्ति होती है। और उस युग के कला एवं साहित्य का भी विविध संदर्भ होता है। मुक्तिबोध इस दृष्टि से आलोचना के विविध आयाम रखते हैं- "कला तभी तक जीती-जागती रहती है जब तक कि लेखक का वर्ण्य वस्तु के प्रति भावात्मक संबंध हो। जिसप्रकार सोचना या विचार करना ज्ञान प्राप्त करने के लिए एक साधन है, उसीप्रकार भावना भी जीवन का ज्ञान प्राप्त करने का एक कलात्मक साधन है।"[7] कला की जीवंतता एवं उसकी प्रगतिशीलता वर्ण्य-वस्तु एवं उसके भावात्मक संबंध पर निर्भर करता

है। कला के संदर्भ में प्रयोगवादी कवि अज्ञेय का मानना है- "कला सामाजिक अनुपयोगिता की अनुभूति के विरूद्ध अपने को प्रमाणित करने का प्रयत्न-अपर्याप्तता के विरूद्ध विद्रोह है।"[8] अर्थात् कला जीवन के विविध आयाम एवं उसके विकसित सौन्दर्यबोध को उजागर करता है। यह समाज के बनते बिगड़ते स्वरूपों की व्याख्या करता है।

मुक्तिबोध की प्रसिद्ध कृति 'एक साहित्यि की डायरी' जिसके संबंध में नामवर सिंह ने कहा है- "कुछ लोग दुनियाँ से बस बहस करते हैं तो सिर्फ अपने, किंतु कुछ थोड़े से लोग ऐसे भी होते हैं जो दुनियाँ से बहस करने की प्रक्रिया में अपने-आप से भी बहस चालू रखते हैं। मुक्तिबोध ऐसे ही थोड़े-से लोगों में थे और उनकी एक साहित्यिक की डायरी ऐसी ही जीवंत बहस का सर्जनात्मक दस्तावेज है जिसमें भाग लेने का लोभ संवरण करना कठिन है।"[9] मुक्तिबोध ने अपनी आलोचना में संवाद पक्ष को महत्वपूर्ण स्थान दिया है। कोई भी कला एक लंबी अनुभूति एवं अनुभव की प्रक्रिया से गुजरता है। जिसके संबंध में उन्होंने लिखा है- "कला का पहला क्षण है जीवन का उत्कट तीव्र अनुभव-क्षण। दूसरा क्षण है इस अनुभव का अपने कसकते-दुखते हुए मूलों से पृथक हो जाना, और एक ऐसी फैंटेसी का रूप धारण कर लेना, मानो वह फैन्टेसी अपनी आँखों के सामने ही खड़ी हो। तीसरा और अंतिम क्षण है इस फैन्टेसी के शब्दबद्ध होने की प्रक्रिया का आरंभ और उस प्रक्रिया की परिपूर्णावस्था तक एक गतिमानता। शब्दबद्ध होने की प्रक्रिया के भीतर जो प्रवाह होता है। प्रवाह में वह फैन्टेसी अनवरत रूप से विकसित परिवर्तित होती हुई आगे बढ़ती जाती है। इसप्रकार वह फैन्टेसी अपने मूल रूप को बहुत कुछ त्यागती हुई नवीन रूप धारण करती है।

जिस फैन्टेसी को शब्दबद्ध करने का प्रयत्न किया जा रहा है वह फैन्टेसी अपने मूल रूप से इतनी दूर चली जाती है कि यह कहना कठिन है कि फैन्टेसी का यह नया रूप अपने मूल रूप की प्रक्रिया के दौरान जो सृजन होता है- जिसके कारण कृति क्रमश विकसित होती जाती है- वही कला का तीसरा और अंतिम क्षण है।"[10]

मुक्तिबोध कलात्मकता की प्रक्रिया और उसके अनुभव तत्वों का विश्लेषण बड़ी ही ईमानदारी से किया है। व्यक्ति जब समाज और समाज के बीच घट रहे घटनाओं का मूल्यांकन अनुभूत तत्वों से करता है, तब वह चाहे साहित्य हो, या कला उसकी जीवंतता और जीवनानुभव, दोनों ता-उम्र प्रासंगिक रहता है। मुक्तिबोध लगातार 'एक साहित्यिक की डायरी' में स्व-संवाद, उनके स्वयं के आंतरिक एवं बाह्य द्वंद्व का पर्याय है। आलोचना का वैचारिक पक्ष तटस्थ होता है, क्योंकि वह साहित्य के 'सतही पक्ष' के दर्पण से देखता है। उसमें जितना 'पर' का 'संवाद' होता है उतना ही 'स्व' का संघर्ष भी। मुक्तिबोध में 'स्व-संघर्ष' की प्रखरता उच्च शिखर पर है। फैण्टेसी, विचार एवं सृजन प्रक्रिया का संबंध युगीन संदर्भ से होता है, जो समाज और साहित्य को अभूतपूर्व रूप से प्रभावित करता है। इसीलिए साहित्य के विभाजन एवं उसके कालखंड का विशेष ध्यान रखा गया है। छायावाद के पतन के पश्चात् प्रगतिवाद का उदय हुआ और फिर प्रयोगवाद। प्रयोगवाद अपने कथ्य एवं शिल्प में भिन्न हैं। क्योंकि तत्कालीन युगीन संदर्भ एवं उसका घटनात्मक प्रभाव समाज में भिन्न था। सामाजिक-राजनीतिक परिस्थिति भिन्न थी। सामाजिक-राजनीतिक घटनात्मक प्रक्रिया समानान्तर नहीं होती है। इस संदर्भ में मुक्तिबोध का मानना है- "साहित्य का विकास और

सामाजिक-राजनैतिक घटनाओं का क्रम समानान्तर रेखाओं पर नहीं चला करता, यानी अनिवार्य रूप से नहीं। समानान्तर रूप में चलाया जा सकता है, परंतु हमेशा यह संभंव नहीं। घटनाओं से समानान्तर साहित्य का विकास तो तभी संभंव है जब उन घटनाओं को ऐतिहासिक शक्तियों की अभिव्यक्ति में मानव के संकल्प की आग के दर्शन हों।"[11]

अर्थात् प्रत्येक ऐतिहासिक घटना का इतिहास होता है, जो समाज को तत्कालीन या समकालीन रूप में प्रभावित करता है। मुक्तिबोध इतिहास के प्रति गहरे संवेदनशील कवि एवं आलोचक हैं। इतिहास का मूल्यांकन किये बगैर उसके समस्त पक्षों एवं तत्वों का उल्लेख ईमानदारी से नहीं किया जा सकता। इसीलिए मुक्तिबोध 'ऐतिहासिक घटना' एवं 'साहित्य-सृजन' में लेखक की सहधर्मिता का उल्लेख करते हैं।

मुक्तिबोध आलोचना एवं उसकी पर्यायता पर भी बेबाकी से अपने विचार प्रकट किया हैं। उनके अनुसार- "आलोचक की आलोचना के लिए भी आलोच्य आलोचक के व्यक्तित्व के स्तर का प्रश्न उतना ही महत्वपूर्ण है। असल बात यह है कि व्यक्ति अनुभवककर्त्ता है। कर्त्ता, कर्म और क्रिया की लड़ी में कर्त्ता का स्थान कर्म और क्रिया की बराबरी का है।"[12] अर्थात् 'कर्त्ता' के व्यक्तित्व एवं उसका कर्म ही आलोचना की सारग्रभिता एवं तार्किकता को प्रस्तुत करेगा। आलोचक को साहित्य के 'परिपक्वता' एवं 'मर्म' का ज्ञान होना आवश्यक है। आलोचक किसी आलोचना का तार्किक स्वाँग नहीं करता, अपितु उसकी वस्तुनिष्ठता का मूल्यांकन करता है। इस संदर्भ में हजारीप्रसाद द्विवेदी के विचार

द्रष्टव्य हैं- "मनुष्य की जो सबसे सूक्ष्म और महनीय साधना है उसी का प्रकाश साहित्य है।"[13] साहित्य मानव इतिहास के स्थूल एवं सूक्ष्म दोनों तत्वों का विवेचन करता है, इसीलिए इसे साधनात्मकता की दृष्टि से देखते हैं।

आलोचना विचारों की निरंतर चलने वाली एक प्रक्रिया है जो पूर्वोत्तर एवं उत्तरोत्तर दोनों से प्रभावित है। यह मानव संबंध के संपूर्ण सामाजिक सांस्कृतिक एवं राजनीतिक प्रक्रिया का हिस्सा है। इस संदर्भ में मुक्तिबोध का कहना है- "विचारों का चरित्र से बहुत गहरा संबंध होता है। कभी-कभी वह प्रत्यक्ष और स्पष्ट दिखायी देता है, कभी-कभी वह अस्पष्ट और अप्रत्यक्ष। इसका मतलब यह नहीं है कि विचारों का तर्क-सिद्ध अथवा अनुभव-सिद्ध प्रभागों से अथवा परम्परा से संबंध नहीं होता।"[14]

मुक्तिबोध की 'एक साहित्यिक की डायरी' की संवाद प्रक्रिया में रचना, आलोचना एवं सृजनतत्व के तमाम पहलू को तर्कसंगत रूप से प्रस्तुत किया गया है। मुक्तिबोध अपने या अपने से इतर भौगोलिक परिवेश में रहकर या अनुभूत करके प्रगतिशील विचार को इसे साहित्यिक रूप में प्रदान किया है। इस संदर्भ में नामवर सिंह का मानना है- "लिखने को तो कई लोगों ने वार्तालाप-शैली में आलोचनाएँ लिखी हैं, लेकिन एक नजर में ही साफ हो जाता है कि वे मूलतः निबंध हैं। दरअसल, इसके पीछे एक पूरी जीवन-प्रक्रिया है।"[15] मुक्तिबोध के संबंध में नामवर सिंह की यह उक्ति तर्कसंगत प्रतीत होती है, क्योंकि उनकी रचना, आलोचना एवं सृजनतत्व में उनके 'जीवन-प्रक्रिया' की झलक यथार्थ रूप में चित्रित हुई है।

हिंदी साहित्य में जयंशकर प्रसाद कृत 'कामायनी' को एक महत्वपूर्ण महाकाव्य माना जाता है। स्वयं जयशंकर प्रसाद 'कामायनी' के आमुख में लिखते हैं- "यह आख्यान इतना प्राचीन है कि इतिहास में रूपक का भी अद्भूत मिश्रण हो गया है। इसीलिए मनु, श्रद्धा और इड़ा इत्यादि अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए, सांकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति करें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं। मनु अर्थात् मन के दोनों पक्ष, हृदय और मस्तिष्क का संबंध क्रमशः श्रद्धा और इड़ा से भी सरलता से लग जाता है।"[16]

स्थूल रूप में 'कामायनी' की कथा का आरंभ भीषण जलप्लावन से शुरू होता है, जिसके परिणामस्वरूप देव संस्कृति का विनाश हो जाता है। केवल मनु जीवित बचते हैं। श्रद्धा और मनु के मिलन से नई सृष्टि, सभ्यता और संस्कृति का उदय होता है। इस कथा में नया प्रसंग या नई दृष्टि का विकास तब होता है, जब मनु की भेंट इड़ा से सारस्वत प्रदेश में होता है। वहाँ उसके सहयोग से शासन व्यवस्था कायम करते हैं। जहाँ मनु का चरित्र भोग, विलास और ऐश्वर्य में डूब जाता है।

शासन और सत्ता के मद में जब मनु बलपूर्वक इड़ा पर काबू पाने का प्रयास करता है, जब प्रजा में विभेद शुरू हो जाता है और युद्ध छिड़ जाता है। मनु घायल अवस्था में होता है। इस संपूर्ण कथा-विन्यास के संबंध में अलग-अलग आलोचकों ने अलग-अलग तरीके से दृष्टिपात किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार- "यदि हम इस विशद काव्य की अन्तर्योजना पर न ध्यान दें, समष्टि-रूप में कोई समन्वित प्रभाव न ढूँढे, श्रद्धा, काम, लज्जा, इड़ा इत्यादि को अलग-

अलग ले तो हमारे सामने बड़ी ही रमणीय, चित्रमयी कल्पना, अभिव्यंजना की अत्यन्त मनोरम पद्धति आती है। इन वृत्तियों की अभ्यन्तर प्रेरणाओं और बाह्य प्रवृत्तियों को बड़ी मर्मिकता से परख कर इनके स्वरूपों की नराकार उद्भावना की गई है। स्थान-स्थान पर प्रकृति की मधुर, भव्य और आकर्षण विभूतियों की योजना का तो कहना ही क्या है। प्रकृति के ध्वंसकारी भीषण रूपवेज का अत्यन्त व्यापक परिधि के बीच चित्रण हुआ है। इसप्रकार प्रसाद जी प्रबन्ध-क्षेत्र में भी छायावाद की चित्र-प्रधान और लाक्षणिक शैली की सफलता की आशाएँ बँधा गये हैं।"[17]

आचार्य नंददुलारे वाजयपेयी के अनुसार- "प्रसाद जी ने कामायनी के नायक और नायिका मनु और कामायनी का स्वरूप वैज्ञानिक भूमि पर स्थिर किया है। पुरूष और नारी की विज्ञान-सम्मत प्रकृति और प्रवृत्ति का चित्रण मनु और कामायनी के रूप में करने की चेष्टा की है। पुरुष और नारी-प्रकृति क्या है? सभ्यता, इतिहास और परम्परा के आवरणों को अलग कर देने पर मूलतः वे क्या रह जाते हैं?- यही कामायनी और मनु के स्वरूपों में दिखाया गया है।"[18]

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार- "कामायनी में आरंभ का दबा हुआ सलज्य भाव विभिन्न सर्गों में स्पष्ट और प्रौढ़ अभिव्यक्ति पाता है। यह क्रम सिद्ध करता है कि वे गंभीर अध्ययन, चिंतन और मनन के माध्यम से अपने भीतर के सौन्दर्य प्रेमी मनोभाव को रहस्यवादी कविता के आवरण में प्रकट कर सके हैं। उन्हें अपने इस विशिष्ट स्वभाव का स्पष्ट और प्रौढ़ समर्थन प्रत्यशिक्षा दर्शन में मिलता है।"[19]

इन तमाम आलोचकों ने 'कामायनी' महाकाव्य पर अपने-अपने विचारों के अनुकूल दृष्टिपात किया है। मुक्तिबोध उपर्युक्त आलोचकों की तुलना में बिल्कुल भिन्न दृष्टि 'कामायनी' महाकाव्य के प्रति रखते हैं। इसके लिए उन्होंने छायावादी काव्य की पृष्ठभूमि एवं उसकी प्रासंगिकता का भी उल्लेख किया है। उनके अनुसार- "छायावाद में वर्णित करूणा व्यक्ति की वास्तविक करूणा नहीं, जिंदगी के भीतर करूणास्पद परिस्थितियों से उत्पन्न मनोभावों का चित्रण नहीं। वह कुछ और ही है, जिसमें करूणा का विलास है, उसकी तकलीफ नहीं।"[20] मुक्तिबोध ने छायावादीयुगीन रचनाओं का मनोविश्लेषणात्मक विश्लेषण किया है। मुक्तिबोध तत्कालीन सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थिति के बीच साहित्य के सतही पक्ष को प्रमुखता से उजागर किया है।

मुक्तिबोध कामायनी की आलोचना बड़े ही व्यापक स्तर से किया है- "कामायनी उस अर्थ में कथा-काव्य नहीं है कि जिस अर्थ में साकेत है। कामायनी की कथा केवल एक फैण्टेसी है। जिस प्रकार एक फैण्टेसी में मन की निगूढ़ वृत्तियों का, अनुभूत जीवन-समस्याओं का इच्छित विश्वासों और इच्छित जीवन-स्थितियों का, प्रक्षेप होता है, उसी प्रकार कामायनी में भी हुआ है।"[21] मुक्तिबोध ने कामायनी की आलोचना का एक व्यवस्थित रूपरेखा रखी, जिसमें तत्कालीन परिवेश के ऐतिहासिक पूँजीवादी स्वरूप का विश्लेषण प्रस्तुत किया। उन्होंने फैन्टेसी शिल्प के वास्तविक पहलुओं को मनोवैज्ञानिक एवं यथार्थवादी दोनों रूपों में अभिव्यक्त किया है। कामायनी में भी उन्होंने विश्वात्मक बोध की व्याख्या की है। सत्ता और समाज के बीच चल रहे द्वंद्व का चित्रण भी उनके आलोचना में प्रखरता से चित्रित हुआ है। मनु और श्रद्धा के माध्यम से जीवनमूल्य का चित्रण

किया है। आधुनिक समाज में पूँजी का संबंध उत्पादन, व्यापार एवं व्यापारिक शक्तियों में निहित होती है। मुक्तिबोध इसी पूँजीवादी व्यवस्था शासन-व्यवस्था के बीच के मकड़जाल को शब्दबद्ध किया है। मुक्तिबोध की दृष्टि में प्रसाद की इतिहासदृष्टि तार्किक नहीं थी। इसीलिए वे समाज और जाति के विषय में सोचना प्रारंभ किया- "प्रसादजी के मानव इतिहास सभ्यता के इतिहास का वैज्ञानिक अध्ययन न था।"[22] मुक्तिबोध जयशंकर प्रसाद के इतिहासदर्शन के वैज्ञानिक पहलुओं की ओर ध्यानाकर्षित किया है। आधुनिक सभ्यता और समाज की समस्या का मूल्यांकन तर्कसंगत रूप से प्रसाद की कामायनी नहीं कर पाती है। मुक्तिबोध तत्कालीन आलोचकों से भिन्न एवं लीक से हटकर इसलिए भी है, क्योंकि वे इतिहास के बनते-बिगड़ते पहलुओं की तार्किक व्याख्या करते हैं। कामायनी के संबंध में भी जयशंकर प्रसाद के इतिहासबोध से बिल्कुल प्रभावित नहीं है। उनका विचार है- "प्रसादजी को समाज और जाति ने, अर्थात् आधुनिक जीवन-जगत् ने, जो दृष्टि प्रदान की वह भी राष्ट्रवादी सांस्कृतिक अभ्युत्थान से प्रेरित। प्रसाद ने अतीत के गौरवमय चित्र उपस्थित कर इस राष्ट्रीय सांस्कृतिक अभ्युत्थान में योग दिया।"[23]

कामायनी में मुख्य पात्र के तौर पर मनु, श्रद्धा, इड़ा का व्यापक विस्तार अलग-अलग संदर्भों में किया गया है। ये तीनों पात्र सभ्यता प्रदत्त है। जो हजारों सालों पूर्व की एक कथा है। इन तीनों पात्रों के चरित्र में भी भिन्नता है। डॉ. मैनेजर पांडेय के अनुसार- "कामायनी में मनु और श्रद्धा के चरित्र के माध्यम से जिस व्यक्तिवाद और श्रद्धावाद की प्रतिष्ठा हुई है, उन दोनों की मुक्तिबोध ने कड़ी आलोचना की है।"[24] श्रद्धावाद के संबंध में मुक्तिबोध ने लिखा है- "श्रद्धावाद,

श्रद्धा के चरित्र से उभरकर, यह उद्घाटित करता है कि हमारा तथाकथित भाववाद-आदर्शवाद, अन्ततः किसप्रकार प्रस्तुत पूँजीवादी विषमताओं के लिए क्षमाप्रार्थी होकर पूँजीवादी व्यक्तिवादियों को सिर्फ नसीहत देता है, और बाद में उन्हीं से समझौता कर लेता है। वह रहस्यवाद आदर्शवाद, वस्तुतः आत्मविरोधों से ग्रस्त पूँजीवाद तथा व्यक्तिवाद का दार्शनिक डिफेंस है, और कुछ नहीं।"[25] इड़ा शोषण और सत्ता का अंत नहीं चाहती है। वह इस अनाचार की भागीदार इसीलिए है, क्योंकि वह शासन पर 'योग्यतम विजय' चाहती है। मुक्तिबोध ने इड़ा के चरित्र के माध्यम से शासन, सत्ता एवं नियम के वैविध्य प्रसंग को उजागर किया है। प्रतिस्पर्धा पूँजीवादी व्यवस्था के स्वामित्व एवं अधिकार को फलने-फूलने में मदद करती है। इसीलिए मुक्तिबोध इस जटिल तंत्र के खिलाफ लगातार संघर्षरत रहे हैं। इड़ा को प्रसाद ने बुद्धिवाद के प्रसंग में उल्लेख किया है। मुक्तिबोध ने इड़ा के संदर्भ में लिखा है- "वस्तुतः इड़ा बुद्धिवाद का प्रतीक न होकर, स्वयं श्रद्धा अ-बुद्धिवादी है, अर्थात् बुद्धि से अतीत अनुभूति के माध्यम से ही श्रद्धा विश्व-रहस्य समझती है।"[26]

प्रसाद ने कामायनी में रहस्य, आनंद एवं दर्शन आदि का उल्लेख किया है। मुक्तिबोध की दृष्टि में 'कामायनी' में उल्लेखित रहस्य, दर्शन एवं आनंद प्रसाद की दृष्टि से भिन्न है। उन्होंने कामायनी को मूल समस्या के तौर पर देखा है। और इसे 'मूल समस्या से पलायन' की भी संज्ञा दी है।

वस्तुतः 'कामायनी: एक पुनर्विचार' आधुनिक समाज की निर्मिति में ऐतिहासिक तत्वों उसके जीवनमूल्य एवं विश्वात्मक इतिहासबोध की व्याख्या की

है। आधुनिक समाज, यांत्रिकी समाज है। जिसमें अनेक प्रकार की विषमता एवं भिन्नता देखने को मिलती है। शासन, सत्ता एवं पूँजी का असमान वितरण एवं वर्चश्व की प्रतिस्पर्धा। मेरी दृष्टि में कामायनी का इतिहासबोध आधुनिक समाज के शासन सत्ता एवं वर्चश्व के बीच पूँजी की भूमिका को भी रेखांकित करता है।

मुक्तिबोध ने सन् 1950 के दशक के आसपास विश्व में घट रही घटनाओं का तार्किक विवेचन किया है। हिंदी साहित्य में जिसे हम 'नयी कविता' कहते हैं। इसका विकास प्रयोगवाद के बाद माना जाता है। स्वतंत्रता के पश्चात् देश में अनेक प्रकार का आंतरिक कलह शुरू हुआ। वर्ग-संघर्ष, भाषायिक मतभेद, राजनैतिक वर्चश्वता इत्यादि का संघर्ष शुरू हुआ, जो कहीं न कहीं समाज और साहित्य के विमर्श को प्रभावित किया। इसी समयातंराल को प्रयोगवाद और नयी कविता के विविध-प्रसंग एवं पहलुओं में देखते हैं। प्रगतिशील समाज एक नवीन पदक्रम को जीवंतता प्रदान करता है। मुक्तिबोध के मतानुसार- "नये मूल्यों का जन्म नयी परिस्थितियों की सार्वजनिकता से होता है।"[27] 'नयी कविताः एक दायित्व' निबंध में लेखक आधुनिक पूँजीवादी समाज के बनते स्वरूप में वर्ग विभाजन के संदर्भ को उजागर किया। अर्थात् धनी वर्ग धनी होता जा रहा है और गरीब वर्ग और भी गरीब। समाज पर इसका अभूतपूर्व रूप से प्रभाव पड़ा है। क्योंकि इससे समाज में आर्थिक विभेद उत्पन्न होता है, जो समाज को आंतरिक एवं बाह्य दोनों रूपों में प्रभावित करता है। इस द्वंद्व का शिकार सबसे ज्यादा माध्यम एवं निम्न वर्ग के लोग होते हैं।

मुक्तिबोध ने 'नयी कविता' के उदय को 'छायावादी व्यक्तिवाद के विरूद्ध यथार्थोन्मुख व्यक्तिवाद की बगावत' करार दिया है। इस दौर की कविता में बौद्धिकता का प्राधान्य है और यथार्थवादी आत्मचेतना की उन्मुखता भी। मुक्तिबोध के अनुसार- "नयी कविता का कवि जगत और जीवन से, सामाजिक तथा राजनैतिक स्थिति-परिस्थिति से, जागरूक रहा। किंतु उसकी उनके प्रति मानसिक प्रतिक्रियाएँ अंतर्मुखी, भावप्रवण और निबिड़ आत्ममूलक रही।"[28] नयी कविता अपने विमर्श में अनेक पहलुओं को उजागर करती है। वह परम्परा, प्रगति एवं आधुनिकता के पक्षों का उल्लेख करती है। इस संबंध में रामस्वरूप चतुर्वेदी के विचार दृष्टव्य है- "नयी कविता में मनुष्य और उसके समग्र अनुभव को पकड़ने का यत्न हुआ है। यों मनुष्य को उसकी संपूर्णता में देखने और समझने की प्रतिज्ञा हर नये वैचारिक और रचना-आंदोलन ने की है- 15वीं शती के यूरोपीय पुनर्जागरण से लेकर 20वीं शती की हिंदी छायावादी कविता। पुनर्जागरण का प्रधान बल समग्र मनुष्य ('होल मैन') की धारण पर था, और आधुनिक हिंदी कवि भी कहता है कि जाति, वर्ण, संस्कृति, समाज से मूल 'मूल व्यक्ति' को फिर से चाल कर निकाला जाए।"[29] नयी कविता जीवन के प्रति आस्था को अभिव्यक्त करती है। नयी कविता युगीन संदर्भ में जीवनबोध, सौन्दर्यबोध और लघुमानव के जिस बोध को प्रस्तुत कर रही है वह आधुनिकता के साथ-साथ समसामायिक भावबोध भी उल्लेखित करती है। 'नयी कविता' अपने कथा एवं विन्यास में अलग पृष्ठभूमि रखती है। भारतभूषण अग्रवाल का मानना है- नयी कविता यथार्थ में संपृक्त है वह कोरी कल्पना की कला को रेत का महल मानती है। मुक्तिबोध ने भी नयी कविता को 'व्यक्ति-मन की प्रतिक्रिया' कहा है। मुक्तिबोध ने नयी कविता

के कथ्य, प्रकृति एवं प्रवृत्ति का मूल्यांकन विविध रूप में करते हैं। वे समाज में घटित घटनाओं को आंतरिक एवं बाह्य प्रक्रिया के फलस्वरूप उत्पन्न स्थिति से जोड़ते हैं। मुक्तिबोध ने विचारधारा का संबंध चेतनात्मक समृद्धि से जोड़ा है। चेतना का संबंध आसपास के वातावरण में घट रहे घटनाओं का इतिहास भी है और बोध भी। इसीलिए मुक्तिबोध इतिहासबोध एवं विश्वबोध की बात वैचारिक दृष्टि से करते हैं। कलाकार का भाव संवेदन पक्ष ही मानव संबंध के बीच सेतु का काम करता है। इतिहास में मानव समस्या जितनी है उनती ही द्वंद्व भी। मुक्तिबोध ने 'संवेदनात्मक ज्ञान' को महत्वपूर्ण माना है। वे ज्ञान एवं भाव, दोनों के विस्तार के पक्षधर हैं। नयी कविता पर द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद शीत युद्ध का भी प्रभाव रहा। इस शीतयुद्ध के दौरान साहित्य के रूप एवं अंतर्वस्तु के स्वरूप में भी बदलाव देखा गया। कला के सौन्दर्यात्मक पक्ष एवं उसके चिंतन तत्व पर भी विचार किया गया। मुक्तिबोध ने इसके ऐतिहासिक प्रक्रिया के विषय में लिखा है- "निःसंदेह, नयी कविता की एक फिलॉसफी के रूप में कला सिद्धांत लाया गया। कला-सिद्धांत के पीछे सामाजिक-साहित्य मनोवृत्तियों का विश्लेषण करनेवाला 'आधुनिक भाव-बोध' का सिद्धांत आया और 'व्यक्ति-स्वातन्त्र्य' के नाम पर एक सामाजिक-राजनैतिक दर्शन भी समर्थन और विस्तार में ही आये। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है।"[30]

प्रत्येक रचनाकार का आलोचनात्मक इतिहास बोध भिन्न होता है। मुक्तिबोध की रचना-प्रक्रिया में व्यक्ति और समाज के अधिकांश घटक तत्व का विवेचन तार्किक रूप से हुआ है। उनका सौन्दर्यबोध प्रसाद और निराला के सौन्दर्यबोध से भिन्न हैं। वे वर्ग-संघर्ष एवं वर्ग चेतना की अनुभूति को जनपक्षीय

दृष्टि से मूल्यांकित किये हैं। इसीलिए उनकी रचनाओं में इतिहास भी है और मनोविज्ञान भी।

मुक्तिबोध समाज की संरचना उसके सामाजिक यथार्थ एवं राजनैतिक व्यवस्था के बदलते स्वरूप को गंभीरता से अभिव्यंजित किया है। उनकी रचनाओं में संवेदना भी है और चिंतन भी। वे समाज की मूलभूत आवश्यकता को समान दृष्टि से देखने के पक्षधर हैं। इसीलिए मुक्तिबोध ने पूँजीवादी साम्राज्यवादी व्यवस्था में निम्न, मध्य एवं उच्च वर्ग की स्थिति का चित्रण प्रमुखता से किया है। और इस व्यवस्था को प्रगतिशील समाज के लिए ह्रासग्रसित बताया है। इसका अनुमान हम पूँजीपति एवं निम्न वर्ग के लोगों के जीवनयापन एवं जीवनशैली से लगा सकते हैं।

मुक्तिबोध का आलोचनात्मक अवदान आधुनिक हिंदी साहित्य में व्यापक फलक प्रदान करता है। आलोचना एवं आलोचक, मुक्तिबोध से पहले भी हुए हैं। लेकिन आलोचना के तार्किक एवं मनोवैज्ञानिक पहलुओं को वैचारिक दृष्टि मुक्तिबोध ने गहनता से प्रदान की है। आलोचना और इतिहास का तार्किक विवेचन, उसके इतिहासबोध का तर्कसंगत स्वरूप, उनकी रचना-प्रक्रिया में प्रौढ़ता से उजागर होती है। 'एक साहित्यिक की डायरी' रचना एवं आलोचना के संवाद को व्याख्यायित करता है। 'कामायनी: एक पुनर्विचार' में लेखक की ऐतिहासिक दृष्टि एवं वैज्ञानिक बोध का भाव उजागर होता है। आधुनिक सभ्यता के विकास में यांत्रिकी एवं पूँजीवादी-साम्राज्यवादी विस्तार

को प्रमुखता से देखा जा सकता है। मुक्तिबोध ने शासन एवं सत्ता के बीच सत्ताकेन्द्रित व्यक्ति के उपभोगी मनोवृत्ति का भी विवेचन किया है।

मेरी दृष्टि में कोई भी रचनाकार लगातार अपने और आसपास में घटित जीवनानुभूत तत्वों से सीखता है और उससे स्व-संघर्ष भी करता है। रचनात्मक अनुभूति भी इसी प्रक्रिया का एक हिस्सा है। मुक्तिबोध की रचना एवं आलोचना में जीवनानुभूत तत्वों का गहन चिंतन है। जिसमें इतिहास भी है, इतिहासबोध भी है और वैज्ञानिक चिंतन भी।

संदर्भ

1. जैन, नेमिचन्द्र; मुक्तिबोध रचनावली (खण्ड-5); राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण: 1986, तीसरी आवृत्ति:2011,पृ. सं.- 19

2. जैन, नेमिचन्द्र; मुक्तिबोध रचनावली (खण्ड-5); राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण: 1986, तीसरी आवृत्ति:2011,पृ. सं.- 19

3. कुमार, वीरेश (संपा.); रामधारी सिंह दिनकर संकलित निबंध, नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली; संस्करण: 2010, पृ. सं.- 27

4. जैन, नेमिचन्द्र; मुक्तिबोध रचनावली (खण्ड-5); राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण: 1986, तीसरी आवृत्ति:2011, पृ. सं.- 22

5. ठाकुर, खगेन्द्र (सं.); नामवर सिंह (प्र. संपा.); प्रेमचंद प्रतिनिधि संकलन, नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली; संस्करण: 2002, तीसरी आवृत्ति: 2013, पृ. सं.- 16

6. जैन, नेमिचन्द्र; मुक्तिबोध रचनावली (खण्ड-5); राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण: 1986, तीसरी आवृत्ति:2011, पृ. सं.- 24

7. जैन, नेमिचन्द्र; मुक्तिबोध रचनावली (खण्ड-5); राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण: 1986, तीसरी आवृत्ति:2011, पृ. सं.- 25

8. 'अज्ञेय', सच्चिदानन्द वात्स्यायन; सर्जना और संदर्भ नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली; संस्करण: 1985, पृ. सं.- 1

9. सिंह, नामवर; वाद विवाद संवाद; राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण: 2007, पृ. सं.- 11

10. मुक्तिबोध, गजानन माधव; एक साहित्यिक की डायरी; भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली; संस्करण: 2014, पृ. सं.- 20-21

11. जैन, नेमिचन्द्र; मुक्तिबोध रचनावली (खण्ड-4); राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण: 1986, तीसरी आवृत्ति:2011,पृ. सं.- 18

12. द्विवेदी, हजारीप्रसाद; विचार प्रवाह; राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण: 1984, पृं. सं.- 169

13. द्विवेदी, हजारीप्रसाद; विचार प्रवाह; राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण: 1984, पृ. सं.- 169

14. जैन, नेमिचन्द्र; मुक्तिबोध रचनावली (खण्ड-4); राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण: 1986, तीसरी आवृत्ति:2011, पृ. सं.- 97

15. सिंह, नामवर; वाद विवाद संवाद; राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण: 2007, पृ. सं.- 12

16. प्रसाद, जयशंकर; कामायनी; राजकमल प्रकाशन दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण: 2012, पृ. सं.- 8-9

17. मदान, इन्द्रनाथ (संपा.); कामायनी: मूल्यांकन और मूल्यांकन; नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद; संस्करण: 1969, पृ. सं.- 17-18

18. मदान, इन्द्रनाथ (संपा.); कामायनी: मूल्यांकन और मूल्यांकन; नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद; संस्करण: 1969, पृ. सं.- 18

19. मदान, इन्द्रनाथ (संपा.); कामायनी: मूल्यांकन और मूल्यांकन; नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद; संस्करण: 1969, पृ. सं.- 10

20. जैन, नेमिचन्द्र; मुक्तिबोध रचनावली (खण्ड-5); राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण: 1986, तीसरी आवृत्ति:2011, पृ. सं.- 311

21. मुक्तिबोध, गजानन माधव; कामायनी: एक पुनर्विचार; राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण: 2010, पृ. सं.- 8

22. जैन, नेमिचन्द्र; मुक्तिबोध रचनावली (खण्ड-4); राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण: 1986, तीसरी आवृत्ति:2011,पृ. सं.- 201

23. मुक्तिबोध, गजानन माधव; कामायनी एक पुनर्विचार, राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण: 2010, पृ. सं.- 16

24. पांडेय, डॉ. मैनेजर; अनभै साँचा; वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण: 2012, पृ. सं.- 228

25. जैन, नेमिचन्द्र; मुक्तिबोध रचनावली (खण्ड-4); राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण: 1986, तीसरी आवृत्ति:2011, पृ. सं.- 282

26. जैन, नेमिचन्द्र; मुक्तिबोध रचनावली (खण्ड-4); राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण: 1986, तीसरी आवृत्ति:2011, पृ. सं.- 298

27. जैन, नेमिचन्द्र; मुक्तिबोध रचनावली (खण्ड-5); राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण: 1986, तीसरी आवृत्ति:2011, पृ. सं.- 297

28. जैन, नेमिचन्द्र; मुक्तिबोध रचनावली (खण्ड-5); राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण: 1986, तीसरी आवृत्ति:2011, पृ. सं.- 313

29. चतुर्वेदी, रामस्वरूप; हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास; लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद; संस्करण: 2010, पृ. सं.- 234

30. जैन, नेमिचन्द्र; मुक्तिबोध रचनावली (खण्ड-5); राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण: 1986, तीसरी आवृत्ति:2011, पृ. सं.- 324

तृतीय अध्याय

मुक्तिबोध के इतिहासबोध की निर्मिति में पूर्व परम्परा का प्रभाव

इतिहासबोध दो शब्दों के संयोग से मिलकर बना है इतिहास और बोध। इतिहास को सामान्यतौर पर 'ऐसा ही था' या 'ऐसा ही हुआ' कहा जाता है। इससे स्पष्ट है कि इतिहास का संबंध अतीत में घटित घटनाओं से निर्मित है। अतीत में घटित घटनाओं का संबंध उसके यथार्थ से भी है, जिसमें संपूर्ण सकारात्मक एवं नकारात्मक पक्षों का भी उल्लेख होता है। बोध का अर्थ है- समझ। अर्थात् इतिहास में घटित घटनाओं की समझ। इसी को संपूर्ण अर्थबोध के संदर्भ में 'इतिहासबोध' कहते है।

इतिहासबोध का संबंध घटित घटनाओं से तो है ही साथ ही साथ संपूर्ण ऐतिहासिक तथ्यों के आंतरिक एवं बाह्य परिस्थितियों के ज्ञान से भी है। यह किसी भौगोलिक क्षेत्र के व्यक्ति, समाज या देश से संबंधित तथ्यात्मक घटनाओं एवं वस्तुओं का विवेचन, उसके उत्पत्ति एवं विकास की व्याख्या प्रस्तुत करता है। इसीलिए इतिहासबोध का संबंध व्यापक परिप्रेक्ष्य में लिया जाता है। डॉ. अमरनाथ के अनुसार- "अतीत के किसी तथ्य, तत्व एवं प्रवृत्ति के वर्णन, विवरण, विवेचन का विश्लेषण को जो कि कालविशेष या कालक्रम की दृष्टि से किया गया हो, इतिहास कहा जा सकता है।"[1] प्रत्येक कालखंड का एक खास इतिहास रहा

हैं, चाहे वह सामाजिक, राजनीतिक धार्मिक-सांस्कृतिक एवं आर्थिक ही क्यों न हो। उसकी भी एक ऐतिहासिक पृष्ठभूमि रही है।

मानव समाज का इतिहास मानव के विकास क्रम एवं उसके प्रत्येक कालखंड से श्रुति एवं मौखिक परंपरा से आगे बढ़ा और आज आधुनिक यांत्रिकीयुग में इसका लिखित रूप भी देखने एवं पढ़ने को मिलता है। इतिहास के इन सभी विकास क्रमों का अध्ययन साहित्य में भी करते हैं। साहित्य इन समस्त पक्षों का चित्रण बड़ी सूक्ष्मता से करता है, क्योंकि साहित्य में मानव समाज एवं उससे निर्मित सभ्यता का मूल्यांकन मानवीय संवेदनाओं को ध्यान में रखकर किया जाता है। साहित्य का इतिहास प्रत्येक युग की संरचना को अभिव्यक्त करती है। आदिकाल, भक्तिकाल, रीतिकाल एवं आधुनिक काल इन चारों कालों की अलग-अलग सामाजिक, सांस्कृतिक राजनीतिक एवं धार्मिक विशेषता रही है। साहित्यकार प्रत्येक युग की परिस्थितियों का भी चित्रण करता है। आदिकालीन साहित्य के इतिहास में सामंती राजशाही व्यवस्था की व्याख्या की गयी है, जो उस कालखंड के तत्कालीन व्यवस्था को अभिव्यंजित करती है। साहित्य का इतिहास समस्त मानवजगत के सूक्ष्म स्वरूपों की व्याख्या करता है। प्रभाकर श्रोत्रिय के अनुसार- "साहित्य अपने समय की राजनीतिक, सामाजिक या आर्थिक संरचना में भले ही कोई प्रत्यक्ष हस्तक्षेप न करता हो, लेकिन वह मनुष्य की अंतर्रचना में अनिवार्य हिस्सा लेता है ताकि वह इतिहास को समझने की दृष्टि और उसे बदलने का सामर्थ्य अपने भीतर विकसित करता चले, क्योंकि अंततः समय को बदलने का दायित्व जिस मनुष्य पर है उसकी चेतना, राग और दृष्टि में गत्यात्मक विकास की जरूरत से इन्कार नहीं किया जा सकता।"[2]

हिंदी साहित्य में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का महत्वपूर्ण स्थान है। शुक्लजी हिंदी साहित्य के इतिहास एवं आलोचना का व्यवस्थित रूपरेखा प्रस्तुत किया है। उनकी प्रसिद्ध कृति 'हिंदी साहित्य का इतिहास', में साहित्येतिहास की आलोचनात्मक दृष्टि भी अभिव्यक्ति हुई है- "जब कि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिंब है, जब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है। आदि से अंत तक इन्हीं चित्तवृत्तियों की परंपरा को परखते हुए साहित्य परंपरा के साथ उनका सामजंस्य दिखाना ही 'साहित्य का इतिहास' कहलाता है।"[3] शुक्लजी का इतिहासबोध समाज के बदलते स्वरूप एवं जनता की चित्तवृत्ति को केन्द्र में रखकर किया गया है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने साहित्य को 'अविच्छिन्न परम्परा' तथा उसमें प्रतिफलित क्रिया-प्रतिक्रियाओं के संदर्भ में व्याख्यायित किया हैं। उनका मानना है- "मूल व्याख्यानों में से बहुत से अंश छोड़ दिए गए हैं, जो हिंदी-भाषी साहित्यिकों के लिए अनावश्यक थे। फिर भी इस बात का यथासंभंव ध्यान रखा गया है कि प्रवाह में बाधा न पड़े। इसके लिए कभी-कभी कोई-कोई बात दो जगत भी आ जाने दी गई है। ऐसा प्रत्यन्त किया गया है कि हिंदी-साहित्य को संपूर्ण भारतीय साहित्य से अविच्छिन्न करके न देखा जाए।"[4] अर्थात् द्विवेदी साहित्य के इतिहासबोध को संपूर्णता के परिप्रेक्ष्य में देखने की बात कही है। इसीलिए 'हिंदी साहित्य की भूमिका' में साहित्य के इतिहास एवं उसके इतिहासबोध को 'भारतीय चिंता का स्वाभाविक विकास' कहा है। क्योंकि इतिहासबोध मानवजाति के समूल पक्ष का विवेचन करती है।

डॉ. नगेन्द्र के अनुसार- "वैसे, देखा जाए तो साहित्यिक रचनाएँ भी मानवीय क्रियाकलापों से भिन्न नहीं है, अपितु वे विशेष वर्ग के मनुष्यों की विशिष्ट क्रियाओं की सूचक होती है; अतः उनके इतिहास को समझने के लिए उनके रचयिताओं तथा उनसे संबंधित स्थितियों, परिस्थितियों और परम्पराओं को समझना भी आवश्यक है।"[5] डॉ. नामवर सिंह के अनुसार- "अपनी ऐतिहासिक चेतना को जीवन्त बनाये रखने के लिए ऐतिहासिक वास्तविकता की जटिलता का अहसास होते रहना आवश्यक है।"[6] इतिहासबोध की निर्मिति में 'ऐतिहासिक वास्तविकता की जटिलता' का ज्ञान आवश्यक है, तभी कोई रचनाकार उसकी तार्किक व्याख्या प्रस्तुत कर सकता है। डॉ. मैनेजर पांडेय के अनुसार- "साहित्य के इतिहास का आधार है, साहित्य के विकासशील स्वरूप की धारणा। साहित्य की निरंतरता और विकासशीलता में आस्था के बिना साहित्य का इतिहास लेखन असंभव है।"[7] ई. एच. आर के शब्दों में "कठनाई यह है कि अतीत के सभी तथ्य ऐतिहासिक तथ्य नहीं होते और न ही इतिहासकार उन्हें तथ्य के रूप में स्वीकार करते हैं। ऐतिहासिक तथ्यों को अतीत के दूसरे तथ्यों से अलगाने का क्या आधार हो सकता है?"[8] ई. एच. आर ने ऐतिहासिक तथ्य का आधार क्या होना चाहिए। इसपर विचार किया हैं।

साहित्य और इतिहास दोनों अलग-अलग संदर्भों में व्याख्यायित होता है। दोनों का परिप्रेक्ष्य भी अलग-अलग है। डॉ. मैनेजर पांडेय की दृष्टि में- "साहित्य एक जीवंत गतिशील प्रक्रिया है, रचनाकर्म एक सामाजिक व्यवहार है। साहित्य को सामाजिक सांस्कृतिक व्यवहार के अंग के रूप में एक विशिष्ट रचनात्मक

व्यवहार समझना साहित्येतिहास की नई धारणा है।"[9] साहित्य में इतिहासबोध की अवधारणा भी इसी से निर्मित होती जान पड़ती है।

मुक्तिबोध का इतिहासबोध उक्त आलोचकों की तुलना में भिन्न हैं। उनके शब्दों में- "समाज की गतिशीलता में राजनैतिक प्रक्रिया अनेक प्रक्रियाओं में से एक है। समाज को विकासशील बनानेवाली अन्य महत्वपूर्ण प्रक्रिया है, सांस्कृतिक प्रक्रिया।"[10] मुक्तिबोध इतिहासबोध की निर्मिति में राजनैतिक प्रक्रिया को महत्वपूर्ण माना है। इसीलिए उनकी दृष्टि में इतिहास में सांस्कृतिक घटक की भूमिका होती है। साहित्य, इतिहास एवं इतिहासबोध तीनों का अन्योन्याश्रित संबंध होता है। साहित्य में इतिहास की घटित घटनाओं का विवेचन प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से किया गया है। साहित्यकार युगीन तथ्य एवं तत्व को जिस 'बोध' से अभिव्यक्त करता है, साहित्यकार के 'इतिहासबोध' की पृष्ठभूमि भी उसी अनुरूप अभिव्यंजित होती है।

साहित्येतिहास में 'मार्क्सवाद' एक विचारधारा भी है और दृष्टि भी। साहित्य में मार्क्सवाद का संबंध ऐतिहासिक-भौतिकवाद एवं उसके विकासप्रक्रिया से संबंधित है। डॉ. रामविलास शर्मा ने हिंदी साहित्य को 'हिंदी जाति का साहित्य' के रूप में व्याख्यायित किया है। अर्थात् रचनाकार अपनी रचना में ऐतिहासिक सामाजिक एवं सांस्कृतिकबोध का रूपायन किसी खास संदर्भ को केन्द्र में रखकर करते हैं। जैसे आचार्य शुक्ल जी की दृष्टि में 'साहित्य का रागात्मक संबंध', 'चित्तवृत्तियों की परम्परा' को प्रमुखता से उजागर किया है।

डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त ने भी 'हिंदी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास' में साहित्य में परंपरा युगीन अंतर्विरोध से उत्पन्न द्वंद्व के कारण भिन्न-भिन्न आंदोलनों, उसकी धाराओं एवं प्रवृत्तियों की ओर रेखांकित किया है। गुप्तजी साहित्य के विकासप्रक्रिया की व्याख्या में तथ्यों को प्रमुखता दी है। ऐतिहासिक तथ्य घटनाओं का गुंफन है। वह पूर्व परंपरा, युगीन वातावरण इत्यादि को भी अभिव्यंजित करता है।

वस्तुतः साहित्य और इतिहास में युग की घटनाओं क्रियाओं एवं प्रतिक्रयाओं की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। युगबोध का संदर्भ लेखक की दृष्टि से निर्मित होता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से लेकर डॉ. मैनेजर पांडेय, सभी आलोचकों ने युगीन संदर्भ का उल्लेख तत्कालीन एवं समकालीन संदर्भ से किया है। साहित्य का उद्देश्य समाज के गतिशील प्रक्रिया को व्याख्यायित करना है। साहित्य की गतिशीलता एवं उसके उद्देश्य के संबंध में मुंशी प्रेमचंद ने कहा है- "साहित्य की बहुत परिभाषाएँ की गई हैं, पर मेरे विचार से उसकी सर्वोत्तक परिभाषा 'जीवन की आलोचना' है। चाहे वह निबंध के रूप में हो, चाहे कहानियों के, या काव्य के, उसे हमारे जीवन की आलोचना और व्याख्या करनी चाहिए।"[11]

वस्तुतः इतिहासबोध युगीन तथ्य एवं तत्व को उजागर करता है। इसीलिए साहित्यकार उसके राजनैतिक, सामाजिक-सांस्कृतिक एवं आर्थिक संरचनाओं का भी विवेचन प्रस्तुत करता है। मुक्तिबोध ने भी इसीलिए इसे सांस्कृतिक प्रक्रिया में भी देखने का प्रयास किया है। वैचारिक दृष्टि से मुक्तिबोध का

इतिहासबोध उपर्युक्त अधिकांश पक्षों पर तर्कसम्मत रूप से विचार प्रदान किया है।

हिन्दी साहित्य के कालखंड में अनेक रचनाकार एवं आलोचक अलग-अलग दृष्टिकोण से रचना एवं आलोचना को प्रतिष्ठित किया है। विश्व के महानतम् साहित्य में 'रामायण' 'महाभारत' और 'श्रीरामचरितमानस' को अंकित किया गया है, जो प्राचीनकाल के युगीन संदर्भ में एवं आज भी आलोचना एवं विमर्श में देखे जाते हैं। प्रत्येक रचनाकार का साहित्यबोध उस युगीन व्यवस्था की संरचनाओं से संदर्भित होती है। इसीलिए वाल्मीकि का इतिहासबोध वेदव्यास के इतिहासबोध से भिन्न हैं और तुलसीदास का इतिहासबोध वाल्मीकि के इतिहासबोध से।

भक्तिकालीन साहित्य की विवेचना अनेक साहित्यकारों ने अलग-अलग संदर्भ में किया है। भक्तिकालीन कवि की रचनाओं में तत्कालीन समाज की वस्तुस्थिति का इतिहास है और इतिहासबोध भी। कबीर, तुलसी, दादू, नानक, मीरा एवं रहीम आदि अधिकांश कवियों ने सामंती राजशाही व्यवस्था के आडंबर, छुआछूत, ऊँच-नीच इत्यादि का उल्लेख पद्य के माध्यम से किया है। कबीर की खुली चुनौती जितना मंदिर में बैठे पंडित के लिए था, उतनी ही बड़ी चुनौती मस्जिद में बैठे मौलवी के लिए।

"काजी मुलाँ भ्रमियाँ, चल्या दुनीं कै साथि।
दिल थैं दीन बिसारिया, करद लई जब हाथि।।7।।"[12]

रचनाकार चाहे वह कवि, कथाकार, उपन्यासकार और आलोचक क्यों न हो, वह समाज के वर्तमान इतिहास से मुक्त नहीं होता है। मीराबाई भी तत्कालीन समाज में स्त्री स्वर के लिए क्रांतिकारी कदम उठायीं, जो आज भी प्रासंगिक हैं। इन सभी रचनाकारों के ऐतिहासिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक बोध के स्तर पर अलग-अलग इतिहासकार एवं आलोचक ने इन्हें प्रतिष्ठित किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हजारीप्रसाद द्विवेदी, रामविलास शर्मा, नंददुलारे वाजपेयी, शिवदान सिंह चौहान, मुक्तिबोध, नामवर सिंह आदि साहित्यकार, इतिहासकार और आलोचक की निम्न परंपरा रही है:-

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

साहित्य के इतिहास का व्यवस्थित एवं आलोचनात्मक स्वरूप आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की देन है। इसके तदोपरांत अनेक इतिहासकारों ने हिंदी साहित्य का इतिहास लिखा है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का इतिहासबोध हिंदी भाषा के जातीयबोध से प्रभावित मालूम होती है। 'हिंदी साहित्य के इतिहास' पुस्तक में आदिकाल, भक्तिकाल, रीतिकाल एवं आधुनिक काल के उनके साहित्यिक चिंतन को देखें तो साहित्य के विकास में सामाजिक राजनैतिक एवं सांस्कृतिक तत्व मौजूद है साथ ही साथ संपूर्ण भाषायिक चेतना का भी स्वर मालूम होता है। डॉ. रामविलास शर्मा के अनुसार- "शुक्ल ने संसार को कहीं भी मिथ्या नहीं कहा। वह उसे रूप-समुद्र कहते हैं। मनुष्य को अपनी सत्ता का ज्ञान भी अलौकिक जीवन से होता है। इस तरह ज्ञान का आधार आलौकिक नहीं है।"[13] शुक्लजी का इतिहासबोध पर वाल्मीकि, भवभूति, तुलसीदास के आदर्शात्मक कलात्मक

सौन्दर्य, का प्रभाव है। इसीलिए तुलसी के राम के आदर्शात्मक भावभूमि को प्रमुखता से उजागर किया है एवं मुक्तकंड से प्रशंसा भी की है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का इतिहासबोध एवं मुक्तिबोध के इतिहासबोध में आदर्शात्मक भाव का अंतर है। मुक्तिबोध का इतिहासबोध द्वंद्वात्मक-भौतिकवाद से प्रभावित है, जिसमें पूँजीपति और मजदूर के बीच का अंर्तद्वंद्व स्पष्ट तौर से उजागर हुआ है। शुक्लजी ने साहित्य के इतिहास को तार्किक रूप से प्रस्तुत तो किया, लेकिन वह युग एवं परिवेश से प्रभावित है। उनके तुलसी के 'राम' का आदर्शात्मक स्वर है, जबकि मुक्तिबोध की दृष्टि में 'तुलसी के राम' का चरित्र वर्णाश्रम व्यवस्था से प्रेरित है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'हिंदी साहित्य का इतिहास', 'गोस्वामी तुलसीदास', 'जायसी ग्रंथावली', 'सूरदास', 'रस मिमांसा', और चिंतामणि भाग एक, भाग दो में व्यवहारिक एवं सैद्धांतिक समीक्षा की है। शुक्लजी ने गोचर-दृष्टि को प्रमुखता से उजागर किया है अर्थात् अलौकिक गुह्य और अतीन्द्रिय चेतना को उन्होंने अस्वीकारा है। गोचर जगत में व्याप्त घटनात्मक तत्वों का विवेचन उन्होंने मनोवैज्ञानिक दृष्टि से किया है। उन्होंने तुलसीदास की रचना 'रामचरितमानस' की मुक्तकंठ से प्रशंसा की है एवं तुलसीदास को लोकचेतना का कवि भी कहा है। आचार्य शुक्ल एवं उनकी परम्परा के रचनाकारों में मौलिक दृष्टिकोण का प्रभाव देखा जा सकता है।

डॉ. रामदरश मिश्र के अनुसार- "साहित्य के क्षेत्र में शुक्लजी की लोकमंगल की भावना का स्वर सर्वत्र मुखर है।"[14] मुक्तिबोध की दृष्टि में समाज

के विकास या यूँ कहें तो मानवचेतना के विकास में ऐतिहासिक-सामाजिक सत्ता केन्द्रित होती है।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

हिंदी साहित्येतिहास में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के बाद आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी हिंदी साहित्येतिहास में लोक एवं शास्त्र की चिंतनधाराओं का गहन अध्ययन है। उन्होंने भारतीय परंपरा, इतिहास एवं संस्कृति का सूक्ष्म विवेचन किया है, जो आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की दृष्टि से भिन्न हैं। 'हिंदी साहित्य का आदिकाल', 'हिन्दी साहित्य: उद्भव और विकास' एवं 'हिंदी साहित्य की भूमिका', 'अशोक के फूल' आदि रचनाओं में भारतीय संस्कृति के मूलरूप, अर्थबोध एवं उसके बदलते परंपरा को नवीन दृष्टि प्रदान की है। साहित्य सृजन में वे मानववाद के पक्षधर रहे है। जनता चाहे वह शिक्षित हो या अशिक्षित मानवीय संवेदनात्मक अनुभूति सभी में विद्यमान होती है- "इस देश का सबसे पुराना उपलब्ध साहित्य आर्यों का है। इन्हीं आर्यों के धर्म और विश्वास नाना अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों में बनते-बदलते अब तक इस देश की अधिकांश जनता के निजी धर्म और विश्वास बने हुए हैं। परन्तु आर्यों का साहित्य कितना भी पुराना और विशाल क्यों न हो, भारतवर्ष के समूचे जनसमूह के विकास के अध्ययन के लिए न तो वह पर्याप्त ही है और न अविसंवादी है।"[15]

मुक्तिबोध ने साहित्य का संबंध इतिहास से किसप्रकार अन्योन्याश्रित है। इसका उल्लेख साहित्य के मनोवैज्ञानिक संदर्भ एवं मनोवृत्ति से जोड़कर देखा है।

साहित्य का इतिहास और उसके शासन सत्ता से गहरा संबंध होता है, इसीलिए मुक्तिबोध हजारीप्रसाद द्विवेदी की इतिहासदृष्टि से भिन्न राय रखते हैं। 'भारत इतिहास और संस्कृति' पुस्तक में सांस्कृतिक प्रक्रिया का भी उल्लेख इस प्रकार है- "आज से पाँच साढ़े-पाँच हजार वर्ष पूर्व, भारत के उत्तर-पश्चिम कोण में आर्य अश्वारोहियों के दल के दल एकत्र होने लगे थे। उन्हें अपनी विकास प्रसार यात्रा में अनेक युद्ध करने पड़े। उन्होंने विविध वैचारिक आंदोलनों का सूत्रपात किया।"[16] द्विवेदीजी साहित्य के इतिहासबोध में 'लोक' को प्रमुखता को केन्द्र में रखा है।

आचार्य नंददुलारे वाजपेयी

आचार्य नंददुलारे वाजपेयी को सौन्दर्यवादी आलोचक कहा गया है। नंददुलारे वाजपेयी मूल रूप से काव्यों की अंतर्वृत्तियों और कलात्मक सौष्ठव की विवेचना की है। छायावाद के संबंध में इनकी मान्यताओं का विशेष महत्व है। उनकी महत्वपूर्ण रचना 'हिंदी साहित्य: बीसवीं शताब्दी' 'नया साहित्यः नए प्रश्न' 'महाकवि सूरदास' आदि रचनाओं में काव्य के तत्व एवं उसके सौन्दर्य पक्ष का विवेचन किया है। वे साहित्य और कला की विवेचना दार्शनिक दृष्टि के आधार रखने के विरोधी थे। नंददुलारे वाजपेयी काव्य में मत, तत्व सिद्धांत आदि पर आचार्य शुक्ल से इतर व्याख्या प्रस्तुत की है- "नई छायावादी काव्यधारा का एक आध्यात्मिक पक्ष है, परंतु उसकी मुख्य प्रेरणा धार्मिक न होकर मानवीय और सांस्कृतिक है।"[17] छायावाद का दौर भारतीय इतिहास में परतंत्रता का दौर था। मुक्तिबोध ने इस संदर्भ में लिखा है। छायावाद की काव्य-भूमि एवं उसकी

सांस्कृतिक विरासत भिन्न है- "छायावाद में वर्णित करूणा व्यक्ति की वास्तविक करूणा नहीं, जिंदगी के भीतर करूणास्पद परिस्थितियों से उत्पन्न मनोभावों का चित्रण नहीं।"[18]

मुक्तिबोध साहित्य में जीवन के अनुभूत तत्व एवं उससे उत्पन्न परिस्थिति को अहम मानते हैं। इसीलिए उनके इतिहासबोध में मानव जीवन के कटु सत्य का उद्घाटन सूक्ष्मता से हुआ है। मुक्तिबोध का सौन्दर्य नंददुलारे वाजपेयी के सौन्दर्य से भिन्न है। नंददुलारे वाजपेयी के अनुसार- "सौन्दर्य की और अधिक झुकाव छायावाद युग के काव्य की एक विशेषता रही है। असुंदर, भयानक और विस्मय-कारक अथवा अरोचक का चित्रण नए युग के काव्य की अन्य विशेषता है। यह भी यथार्थवाद की दिशा में बढ़ाया गया एक कदम है।"[19] मुक्तिबोध साहित्य के सौन्दर्यपक्ष को अलग दृष्टि से देखते हैं। उनकी दृष्टि में 'सौन्दर्य की सामाजिक दृष्टि' तत्व का होना आवश्यक है, क्योंकि समाज बहुवैविध्य स्वरूप से निर्मित है।

रामविलास शर्मा

रामविलास शर्मा मार्क्सवादी विचारधारा के सबसे समर्थ आलोचक माने जाते हैं। उनकी आलोचना में प्राचीनता, मध्यकालीन एवं आधुनिकता के व्यापक परिप्रेक्ष्य का उद्घाटन हुआ है। लोकजागरण एवं नवजागरण के विविध संदर्भ का भी उल्लेख बड़े प्रखर रूप से किया गया है। नंदकिशोर नवल के अनुसार- "शुक्लजी की असंगतियां उनके दार्शनिक दृष्टिकोण से भी संबंधित हैं और उनके सामाजिक, राजनीतिक तथा साहित्यिक दृष्टिकोण से भी। डॉ. शर्मा ने मार्क्सवादी

दृष्टिकोण की सहायता से हिंदी आलोचना को ऐसी तमाम असंगतियों से मुक्त किया।"[20] वे साहित्य के भौतिक एवं सामाजिक पक्ष के अंर्तद्वंद्व को भी व्याख्यायित किए हैं। समाजिक परिवर्तन का आधार सामान्य जनवर्ग होता है। उन्होंने इसका उल्लेख निम्न संदर्भ में किया है- "सामाजिक एवं राजनीतिक क्रांतियों के पीछे जनता की भौतिक शक्ति के साथ-साथ विचार और चिंतन की शक्ति भी काम करती है।"[21] अर्थात् साहित्य के इतिहास में शासन सत्ता का संघर्ष हमेशा से रहा और उसका अंर्तद्वंद्व भी समाज के अधिकांश वर्ग को प्रभावित करता है।

मुक्तिबोध का इतिहासबोध रामविलास शर्मा के इतिहासबोध से भिन्न विचार रखते हैं- "सच्चा ऐतिहासिक दृष्टिकोण वह जो न केवल बाहरी स्थिति से जुड़ी हुई जटिल समस्याओं पर नए ढंग से चिंतन करते हुए हिंदी साहित्य के जातीय रूप के आधार को स्पष्ट किया है।"[22]

मुक्तिबोध का साहित्यबोध सिर्फ भाषा केन्द्रित नहीं है, अपितु उसके सामाजिक विकास की प्रक्रिया को केन्द्रीय तत्व माना है।

शिवदानसिंह चौहान

हिन्दी साहित्य के आलोचना में शिवदानसिंह चौहान का महत्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने हिंदी का कोई इतिहास नहीं लिखा है, लेकिन साहित्य के इतिहास के बदलते स्वरूप का आलोचनात्मक विवेचन किया है। जैसे 'प्रगतिवाद' 'हिंदी साहित्य अस्सी वर्ष' 'आलोचना के मान' इत्यादि। साहित्य के इतिहास के आलोचनात्मक विवेचन में भी साहित्यकार की ऐतिहासिक ज्ञान एवं बोध की

परख होती है। शिवदानसिंह चौहान आलोचना में तटस्था एवं निष्पक्षता के पक्षधर थे। उन्होंने साहित्य, इतिहास एवं संस्कृति इत्यादि की व्याख्या भी किये हैं। मुक्तिबोध प्रगतिशील समाज की विवेचना संवेदनात्मक दृष्टि से करते हैं।

डॉ. रादरश मिश्र के अनुसार- "रामविलासजी ने अपने निबंधों में अतीत के साहित्य का विश्लेषण करते हुए सदैव तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति का ध्यान रखा है। और उन्होंने तुलसी, भूषण, भारतेंदु, मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद, पंत, निराला आदि कवियों को अपने जमाने के क्रांतिकारी कवि है। इस क्रांतिकारी का मतलब यही है कि इन कवियों ने अपने युग की पुरानी शोषक प्रवृत्तियों का खंडन किया और जनता का चित्रण पर मानवतावादी परम्परा को आगे बढ़ाया।"[23]

डॉ. मैनेजर पांडेय के अनुसार- "रामविलास शर्मा साहित्य के विशुद्ध आलोचक और इतिहासकार नहीं हैं, उन्होंने हिंदी भाषा और हिन्दी भाषा-भाषी समाज के इतिहास के बारे में भी महत्वपूर्ण स्वतंत्र चिंतन किया है। हिंदी भाषी समाज तथा हिंदी भाषा के जातीय स्वरूप के विकास से व्यष्टि और समष्टि, आत्म और परिवृत्ति में जो मौलिक प्रगतिमूलक क्रिया प्रतिक्रियात्मक संघर्ष अनवरत् चला आया है और चलता जाएगा, और जिसके परिणामस्वरूप ही मनुष्य का सामाजिक जीवन वर्धमान है, और मनुष्य का पूर्ण आत्मविकास संभाव्य बना है- इस महान संघर्ष का मनुष्य ने किसप्रकार सामना किया है, कैसे निरन्तर घटित होने वाले असामंजस्य और वर्ग-वैषम्य का विरोध करके उसने नित-नूतन जीवनप्रद संतुलन प्राप्त किया है और करता जा रहा है- इस समस्त मानवीय

कृतित्व और तन्त्रनित मानव-मूल्यों के निर्माण का इतिहास, मनुष्य की समस्त विकासोन्मुख सचेतन और अवचेतन चेष्टा और परिणाम का विविध भाव, वर्ण, रूप, रस गंधमय अनुभव कला और साहित्य में अपनी विशिष्ट मुर्तिमत्ता के साथ प्रतिलिंबित है।"[24]

मुक्तिबोध सामाजिक विकास प्रक्रिया में उत्पन्न द्वंद्व को प्रमुखता से उजागर किया है। उनकी दृष्टि में- "इस भारतीय समाज की विकास-यात्रा बहुत दिलचस्प है। इसमें कितने उलट-फेर हुए हैं! कितनी जातियाँ यहाँ आयीं और विलीन हो गयीं, किसप्रकार उन्होंने एक-दूसरे को प्रभावित किया और एक होकर आगे बढ़ी यह बड़ी रोचक और स्फूर्तिदायिनी कथा है।"[25] मुक्तिबोध के इतिहासबोध में सामाजिक-सांस्कृतिक विकासक्रम का वैज्ञानिक पहलू शामिल हैं। इसीलिए वे 'कुहरे में ढँका हुआ मानवेतिहास' कहा है- "वैज्ञानिक बताते हैं कि वानरों से मनुष्य का विकास हुआ। आज से लाखों साल पहले की यह घटना है। मनुष्य ने अपनी पशु-तुल्य अवस्था से क्रमशः ऊपर उठते हुए, किसप्रकार अपनी उन्नति का मार्ग प्रशस्त किया, यह एक मनोरंजक विषय।"[26]

प्रत्येक कालखंड के साहित्य की एक खास परम्परा रही है। चाहे वह आदिकाल, भक्तिकाल, रीतिकाल या फिर आधुनिक काल ही क्यों न हो हर युग अपने पिछले युग की तुलना में उत्थान या पतन के रूप में आगे बढ़ता है। समाज हमेशा गतिशील रहा है। इसीलिए मुक्तिबोध सामाजिक विन्यास की गतिशीलता को अहम मानते हैं। इस विन्यास में खास परंपरा एवं संस्कृति भी पोषित होती है। इस संदर्भ में शिवदान सिंह चौहान के विचार द्रष्टव्य है- "साहित्य में किसी न

किसी रूप में जीवन सत्य की ही अभिव्यक्ति होती है, और चूंकि मनुष्य का जीवन अर्थात् उसका आचार-विचार, उसके न्याय और धर्म संबंधी विचार और उसकी नैतिकता और राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक व्यवस्थाएँ रोज-रोज नहीं बदला करती, इस कारण इस चतुर्दिक वातावरण से प्रभावित मनुष्य के दृष्टिकोण की साहित्य में जो अभिव्यक्ति होती है वह भी तब तक थोड़ा बहुत करके अपने को दुहराती चलती है जबतक कि जीवन में कोई मौलिक परिवर्तन न हो गया हो या जब तक रूढ़ियों में जकड़े हुए समाज का विकास इस सीमा तक अवरूद्ध न हो गया हो कि लोग सामान्य रूप से मौलिक परिवर्तन की आकांक्षा करने लगे हो।"[27]

इसके अतिरिक्त अन्य साहित्यकारों ने भी साहित्येतिहास एवं बोध की अलग-अलग व्याख्या किये हैं। आधुनिक हिंदी साहित्य में साहित्य के इतिहास एवं उसके व्यापक संदर्भ को जब देखें तो हम पाते हैं कि लोक, शास्त्र, जनवादी, सौन्दर्यवादी एवं रसवादी आदि परम्परा रही है। साहित्य के बदलते मानदंड में साहित्यकार के दृष्टिकोण की प्रमुख भूमिका होती है। चाहे वह आदर्शवादी, मार्क्सवादी और समाजवादी ही क्यों न हो। इन सभी दृष्टिकोण का प्रभाव इतिहास और साहित्य दोनों पर पड़ता है। उपर्युक्त रचनाकारों ने साहित्य में तमाम परम्परा को सूक्ष्मता से पेश किया है, जो उसकी रचनाशीलता, उद्यमशीलता एवं ऐतिहासिकता को उद्घाटित करता है।

मुक्तिबोध के इतिहासबोध की निर्मिति में उपर्युक्त तमाम रचनाकारों का गहन अध्ययनबोध है, जो पूर्व परम्परा को नवीन दृष्टि से अर्थबोध प्रदान किया है। किसी भी भौगोलिक ईकाई के विकास में विद्यमान संपूर्ण घटकों का संयोग

होता है। इस संदर्भ में मुक्तिबोध के विचार उल्लेखनीय हैं- "साहित्य एक कला है जिसमें एक विशेष वर्ग (जो कि संस्कृति का अधिकारी हो जाता है) अपनी ऐतिहासिक, सामाजिक स्थिति की आवश्यकताओं के अनुसार अपने प्रधान विषय है। इस विषय निर्वाचन में निश्चय की तत्कालीन मानव-संबंध, विश्व-दृष्टि तथा जीवन-मूल्य प्रकट करते हैं।"[28] रचनाकार साहित्य और इतिहास के बीच के संघर्ष एवं द्वंद्व दोनों को उजागर करता है। मुक्तिबोध मूलतः कवि हैं; लेकिन इतिहास और विश्व के इतिहास में घटित घटनाओं का विवेचन भी तर्कसंगत रूप से किया है। औद्योगिक क्रांति के पश्चात् विश्व के देशों में अनेक परिवर्तन हुआ। भारत भी इस परिवर्तन से अछूता नहीं रहा है। साम्राज्यवाद-पूँजीवाद के विस्तार से समाज में सामाजिक आर्थिक एवं सांस्कृतिक विभेद उत्पन्न होता है। पूँजी का वर्चश्व बुर्जआ वर्ग के हित में होता है, जो अपने हित के अनुसार समाज में नई संरचना का बीज बोता है। मुक्तिबोध की एक प्रसिद्ध कविता है- 'पूँजीवादी समाज के प्रति' जिसमें शोषण के समस्त दोहन पक्ष का उल्लेख हुआ है।

"इतने प्राण, इतने हाथ; इतनी बुद्धि
इतना ज्ञान, संस्कृति और अंतः शुद्धि
इतना द्विव्य, इतना भव्य, इतनी-शक्ति,
यह सौन्दर्य, वह वैचित्र्य, ईश्वर-भक्ति
इतना काव्य, इतने शब्द, इतने छंद
जितना ढोंग, जितना भोग है निर्बंध
इतना गूढ़, इतना गाढ़, सुंदर जाल
केवल एक जलता सत्य देने आल।"[29]

मुक्तिबोध सभ्यता संस्कृति एवं परम्परा के महत्वपूर्ण पहलुओं पर सूक्ष्म विवेचन किया है। उनका इतिहासबोध इतिहास के सिर्फ घटित-घटनाओं के पक्षों का उल्लेख नहीं करता। अपितु उसके समस्त आंतरिक एवं बाह्यप्रक्रियाओं का भी वर्णन सूक्ष्मता से किया है- "आदिम साम्यवाद, दास, सभ्यता, सामंतवाद, पूँजीवाद और समाजवाद इन क्रमागत समाज रचनाओं में बराबर इसप्रकार का कथा-साहित्य तैयार हुआ। आदिम साम्यवाद में यदि भाषा रही है, नृत्य और काव्य-संगीत रहा है तो पूर्वगामी वीरों की कथाएँ भी रही होंगी।"[30]

मुक्तिबोध ने समाज के विकासक्रम में सामाजिक, भाषायिक एवं सांस्कृतिक तत्व का उल्लेख किया है। मुक्तिबोध साहित्य में प्राचीनता, मध्यकालीनता और आधुनिकता के क्रमिक विकास का विवेचन इस रूप में करते हैं- "अर्थात् जिस युग में साहित्य एक नवीन अ-पूर्व-निश्चित दिशा की ओर मुड़ता है, वहाँ किसी पूर्वकालीन परम्परा का आसरा न होने के कारण प्रयोगावस्था में से गुजरना पड़ता है। निःसंदेह प्रयोगावस्था के इस साहित्य में कलात्मक दृष्टि से, कई अक्षम्य त्रुटियाँ भी होंगी। किंतु परम्परा के विकसित हो जाने पर उसी में श्रेष्ठ कला के दर्शन होंगे।"[31]

उनकी अधिकांश रचनाओं में युगीन बोध का विवेचन है। 'कामायनी: एक पुनर्विचार', 'एक साहित्यिक की डायरी', 'भारत: इतिहास और संस्कृति', इत्यादि रचनाओं में पूर्व निर्मित साहित्यिक परम्परा से भिन्न इतिहासबोध है। प्रसाद की प्रसिद्ध रचना 'कामायनी' महाकाव्य में आध्यात्मिक दृष्टि भी है, जबकि मुक्तिबोध 'कामायनी' को फैन्टेसी करार दिए हैं। उन्होंने साहित्य में सृजनात्मक

पक्ष का विवेचन मानवीय दृष्टि से किया है। मुक्तिबोध की 'मानवीयता' संपूर्णता में संप्रेषित हुआ है। इसीलिए मुक्तिबोध की कविताओं में मानवता का इतिहास एवं उसकी वृत्ति का भी विवेचन है। मुक्तिबोध की उत्तरार्द्ध की कविताओं में आधुनिक समाज एवं व्यवस्था का सजीव चित्रण है। उनकी प्रमुख कविता 'ब्रह्मराक्षस', 'अँधेरे में', 'चाँद का मुँह टेढ़ा', इत्यादि में सामाजिक व्यवस्था, रूढ़िता, शासन सत्ता का दंभ और लोकतांत्रिक व्यवस्था की असफलता आदि को उजागर किया गया है। उनकी प्रसिद्ध कविता 'अँधेरे में' आधुनिक पूँजीवादी समाज की विद्रूपता का चित्रण सजीवता से हुआ है। अभिव्यक्ति मनुष्य का स्वभाविक विवेक भी है और अधिकार भी। मुक्तिबोध इन दोनों का उल्लेख इस कविता में बारंबार किए हैं। डॉ. नामवर सिंह के अनुसार- "'अँधेरे में', कविता की ये अंतिम पंक्तियाँ उस अस्मिता या 'आइडेंटिटी' की खोज की ओर संकेत करती हैं। जो आधुनिक मानव की सबसे ज्वलंत समस्या है।"[32] लेखक अस्मिता की खोज में लगातार इस कविता में 'स्व-संवाद' करता प्रतीत होता है।

"इसलिए मैं हर गली में
और हर सड़क पर
झाँक-झाँककर देखता हूँ हर एक चेहरा,
प्रत्येक गतिविधि,
प्रत्येक चरित्र,
व हर एक आत्मा का इतिहास,
हर एक देश व राजनीतिक स्थिति और परिवेश।"[33]

डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी ने इस कविता के मूल कथ्य के विषय में लिखा है- "'अँधेरे में' लंबे खंडो में कवि की समस्या है समाज के उत्थान-पतन और आंदोलनों के बीच अपनी रचना के प्रेरक तत्त्वों का अभिज्ञान, रचना कैसे बाहर से अंदर आती है और फिर कैसे बाहर दूर-दूर तक परिव्याप्त हो जाती है। कविता का अंतिम अंश मुक्तिबोध ही नहीं 'रचना-शीलता' के प्रति ईमानदार हर कवि का अंतिम वक्तव्य और साक्ष्य हो सकता है।"[34] मुक्तिबोध की इस कविता के विषय में अनेक आलोचकों ने अलग-अलग दृष्टिकोण से विचार व्यक्त किया है।

इस कविता की संरचना में जितनी नाटकीयता है उतने ही वैविध्य प्रसंग। इस कविता का इतिहासबोध शासन और सत्ता के गठजोड़ को चित्रित करता है। सामान्य जन इस कविता में शोषित पीड़ित एवं भय-आक्रांत है, जिसमें गाँधी के स्वप्न को टूटते हुए देखा जा सकता है। तानाशाही व्यवस्था में आमजन का जीवन घूटन भरा होता है। समाज और सामाजिक व्यवस्था के बीच 'सामान्य जन' की पीड़ा इस कविता में प्रमुखता से उजागर हुआ है।

मुक्तिबोध की कविता 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' में भी इतिहासबोध की व्याख्या हुई है। इस कविता में भी मुक्तिबोध ने सामंती व्यवस्था के स्वरूप को उजागर किया है। औद्योगिक क्रांति के पश्चात् धीरे-धीरे पूँजीवाद का वर्चश्व बढ़ा और नगरों में यह पैठ जमाना शुरू किया। शोषण तंत्र का यह नया रूप है।

"नगर के बीचोबीच
आधी रात-अँधेरे की काली स्याह
शिलाओं से बनी हुई दिवालों के घेरों पर,

अहातों के काँच-टुकड़े-जमे-हुए
ऊँचे-ऊँचे कँधो पर, सिरों पर
चाँदनी की फैली हुई सँवलाई झालरें।"[35]

इस कविता में भी मुक्तिबोध पूँजीवादी व्यवस्था में जनसामान्य की पीड़ा को उकेड़ा है। डॉ. मैनेजर पांडेय के अनुसार- "मुक्तिबोध रचना और आलोचना दोनों ही स्तरों पर इस आधुनिकतावाद के खिलाफ लगातार संघर्ष करते रहे।"[36]

मुक्तिबोध की दृष्टि में, इतिहास का मूल्यांकन तार्किक रूप से होना चाहिए ना कि घटनात्मक तथ्य के आधार पर। इसीलिए उनकी रचना में जितनी व्याकुलता है उतनी ही आत्म-सजगता। यह आत्म-सजगता मुक्तिबोध की चिंतन का परिणाम है।

मुक्तिबोध साहित्य सृजन में परम्परा विरोधी नहीं है, तर्कहीन विचारों के विरोधी हैं। वे साहित्य के सतही पक्ष का उल्लेख निम्न संदर्भ में किया है- "साहित्य का मूल्यांकन निश्चित करते इस 'सतह' का ध्यान रखना ही पड़ता है। कवि का शब्द-चयन छंद-रचना, प्रकृति-वर्णन, स्वभाव-चित्रण अत्यंत सुंदर होते हुए भी (जैसे कि टेनिसन में है), यदि ऊँची सतह नहीं है, तो वह उच्च कलाकार नहीं कहला सकता।"[37] साहित्य में दृष्टिकोण एवं उसके सतही पक्ष का विशेष महत्व होता है। मानव सभ्यता का विकास अनेक प्रक्रियाओं से गुजरने के पश्चात् हुआ है। इसके सृजन के अनेक घटक भी रहे हैं। मुक्तिबोध इस मानवश्रोत के मनोवैज्ञानिक वह तक पहुँचने का प्रयास करते है।। उसके स्थूल पक्ष पर विचार करते हैं। मुक्तिबोध के अनुसार- "यह सच है कि जीवन की कुछ ऐसी गहरी

अनुभूतियाँ होती है जो कभी भी प्रकाश में नहीं आ पातीं। आ ही नहीं सकतीं। उन पर व्यावहारिक जगत की कुछ ऐसी बन्दिश और कैद होती है कि उनकी प्रकटीकरण सामाजिक अशोभनता की सीमा छू आता है।"[38]

मुक्तिबोध की 'कामायनी: एक पुनर्विचार' आलोचना तत्कालीन आलोचना परमपरा से भिन्न है। जिसमें उन्होंने युगीन समस्या को नवीन दृष्टिकोण प्रदान किया है। मुक्तिबोध का इतिहासबोध इस कृति में व्यापक रूप से व्याख्यायित हुआ है- "कामायनी की कमजोरी क्या है? वही जो प्रसाद की कमजोरी है। जिसप्रकार में आँसू में उनके रहस्यवाद कृत्रिम होता है, उसी प्रकार कामायनी में मूलकथा का घुमाव भी। मानव-संबंधों के और मानव-चरित्रों के भीतर उद्घाटित होनेवाली समस्याओं के क्षेत्र से ही पलायन किया गया है। यह पलायन उनके रहस्यवादी दर्शन ने कराया, जो दर्शन समस्याओं से व्यक्ति का छुटकारा तो कराता है, किंतु बाह्य जीवन-जगत में स्थित उन समस्याओं के अस्तित्व को समाप्त नहीं करता, उनका उन्मूलन नहीं करता।"[39]

वस्तुतः मुक्तिबोध इतिहास को सिर्फ घटनाओं एवं तथ्यों का संग्रह नहीं माना, अपितु उसके द्वंद्वात्मक संबंध को भी प्रमुखता से केन्द्र में रखा है। भारत: इतिहास और संस्कृति में मानवेतिहास की संरचना को व्याख्यायित किया है। उनकी रचना एवं आलोचना में इतिहासबोध का भी विवेचन है। उपर्युक्त पुस्तक में लेखक ने सभ्यता के विकास में मानव के परिवर्तित स्वरूप का भी उल्लेख किया गया है। प्राचीन काल से लेकर आधुनिक कालखंड के परिवर्तनकारी घटक का भी उल्लेख है। आर्यों का आगमन, मुगलों का आगमन और फिर ईस्ट-इंडिया

का भारत पर अधिकार, इन सभी परिवर्तनकारी घटक का मूल्यांकन प्रमुखता से किया गया है। मुक्तिबोध के इतिहासबोध में वैज्ञानिकता एवं तार्किकता प्रमुखता से उजागर हुआ है। मुक्तिबोध इतिहास के राजनैतिक प्रक्रिया के साथ-साथ उसके सांस्कृतिक स्वरूप को भी महत्वपूर्ण घटक मानते हैं।

संदर्भ

1. डॉ. अमरनाथ; हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली; राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण: 2012, पृ. सं.- 74
2. क्षोत्रिय, प्रभाकर; साहित्य की इतिहास दृष्टि; वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण: 2010, पृ. सं.- 15
3. शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र; हिंदी साहित्य का इतिहास; कांती पब्लिकेशन्स, दिल्ली; संस्करण: 2011, पृ. सं.- 21
4. द्विवेदी, हजारीप्रसाद; हिंदी साहित्य की भूमिका; राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण: 2016, पृ. सं.- 5
5. डॉ. नगेन्द्र (संपा.); हिन्दी साहित्य का इतिहास; मयूर पेपरबैक्स; संस्करण: 2012, पृ. सं.- 22

6. सिंह, डॉ. नामवर; इतिहास और आलोचना; राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण: 2012, पृ. सं.- 162-163

7. पांडेय, डॉ. मैनेजर; साहित्य और इतिहास दृष्टि; वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण: 1981, पृ. सं.- 4

8. कार, ई. एच.; इतिहास क्या है; मैकमिलन इंडिया लिमिटेड, नई दिल्ली; संस्करण: 1987, पृ. सं.- 3

9. पांडेय, डॉ. मैनेजर; साहित्य और इतिहास दृष्टि, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण: 1981, पृ. सं.- 22

10. 'मुक्तिबोध', गजानन माधव; भारत: इतिहास और संस्कृति; राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण: 2009, पृ. सं.- 13

11. ठाकुर, गजेन्द्र (सं.); नामवर सिंह (प्र. संपा.); प्रेमचंद प्रतिनिधि संकलन; नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली; संस्करण: 2002, तीसरी आवृत्ति, 2013, पृ. सं.- 4

12. दास, डॉ. श्यामसुंदर; कबीर ग्रंथावली (संपा.); प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली; संस्करण: 2013, पृ. सं.- 96

13. शर्मा, रामविलास; आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना; राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण: 2017, पृ. सं.- 43

14. मिश्र, रामदरश; हिंदी समीक्षा: स्वरूप और संदर्भ; दी मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड; संस्करण: 1974, पृ. सं.- 74

15. द्विवेदी, हजारीप्रसाद; अशोक के फूल; सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली; संस्करण: 1950, पृ. सं.- 61

16. 'मुक्तिबोध', गजानन माधव; भारत: इतिहास और संस्कृति; राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण: 2009, पृ. सं.- 30

17. वाजपेयी, आचार्य नंददुलारे; आधुनिक साहित्य; भारती-भंडार, इलाहाबाद; संस्करण: संवत् 2007, पृ. सं.- 319

18. जैन, नेमिचन्द्र; मुक्तिबोध रचनावली (खण्ड-5); राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण: 1986, तीसरी आवृत्ति:2011, पृ. सं.- 311

19. वाजपेयी, आचार्य नंददुलारे; आधुनिक साहित्यः भारती-भंडार, इलाहाबाद; संस्करण: संवत् 2007, पृ. सं.- 9

20. त्रिपाठी, अरविंद (संपा.); हिंदी आलोचना के नवरत्न; शिल्पायन प्रकाशन, दिल्ली; संस्करण: 2013, पृ. सं.- 53

21. शर्मा, रामविलास; प्रगति और परंपरा; किताब महल, इलाहाबाद; संस्करण: 1948, पृ. सं.- 10

22. जैन, नेमिचन्द्र; मुक्तिबोध रचनावली (खण्ड-5); राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण: 1986, तीसरी आवृत्ति:2011, पृ. सं.- 69

23. मिश्र, डॉ. रामदरश; हिंदी सीमक्षा: स्वरूप और संदर्भ; दी मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड; संस्करण: 1974, पृ. सं.- 282

24. पांडेय, डॉ. मैनेजर; साहित्य और इतिहास दृष्टि; वाणी प्रकाशन दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण: 1981, पृ. सं.- 167

25. चौहान, शिवदान सिंह; साहित्यानुशीलन; आत्माराम एंड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली; संस्करण: 1955, पृ. सं.- 2

26. 'मुक्तिबोध', गजानन माधव; भारत: इतिहास और संस्कृति; राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण: 2009, पृ. सं.- 17

27. चौहान, शिवदान सिंह साहित्यानुशीलन; आत्माराम एंड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली; संस्करण: 1955, पृ. सं.- 22

28. जैन, नेमिचन्द्र; मुक्तिबोध रचनावली (खण्ड-5); राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण: 1986, तीसरी आवृत्ति:2011, पृ. सं.- 54

29. वाजपेयी, अशोक (सं.); गजानन मा. मुक्तिबोध: प्रतिनिधि कविताएँ; राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण: 2014, पृ. सं.- 14

30. जैन, नेमिचन्द्र; मुक्तिबोध रचनावली (खण्ड-5); राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण: 1986, तीसरी आवृत्ति:2011, पृ. सं.- 42

31. जैन, नेमिचन्द्र; मुक्तिबोध रचनावली (खण्ड-5); राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण: 1986, तीसरी आवृत्ति:2011, पृ. सं.- 44

32. सिंह, नामवर: कविता के नए प्रतिमान; राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण: 2014, पृ. सं.- 221

33. वाजपेयी, अशोक (संपा.); गजानन माधव 'मुक्तिबोध' प्रतिनिधि कविताएँ; राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; आवृत्तिः 2014, पृ. सं.- 171

34. चतुर्वेदी, रामस्वरूप; हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास; लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद; संस्करण: 2010, पृ. सं.- 201

35. वाजपेयी, अशोक (संपा.); गजानन मा. मुक्तिबोध प्रतिनिधि कविताएँ; राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; आवृत्ति: 2014, पृ. सं.- 93

36. पांडेय, डॉ. मैनेजर, साहित्य और इतिहास दृष्टि; वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण: 1981, पृ. सं.- 225

37. जैन, नेमिचन्द्र; मुक्तिबोध रचनावली (खण्ड-5); राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण: 1986, तीसरी आवृत्ति:2011, पृ. सं.- 55

38. जैन, नेमिचन्द्र; मुक्तिबोध रचनावली (खण्ड-5); राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण: 1986, तीसरी आवृत्ति:2011, पृ. सं.-26

39. जैन, नेमिचन्द्र; मुक्तिबोध रचनावली (खण्ड-5); राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण: 1986, तीसरी आवृत्ति:2011, पृ. सं.-323

चतुर्थ अध्याय

आदिकाल, भक्तिकाल एवं रीतिकाल के विशेष संदर्भ में मुक्तिबोध का इतिहासबोध

आदिकाल और मुक्तिबोध का इतिहासबोध

आदिकाल, भक्तिकाल एवं रीतिकाल के विशेष संदर्भ में साहित्य के इतिहास के लेखकों एवं आलोचकों के बीच भिन्न-भिन्न राय हैं। आदिकाल अपने युग एवं परिस्थिति में भक्तिकाल से भिन्न है और रीतिकाल से भी। इसीलिए साहित्य के इतिहासकारों ने इसे भिन्न-भिन्न नामों से अभीहित किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसे 'वीरगाथा काल' कहा है। राहुल सांकृत्यायन ने इसे 'सिद्ध-सामंत-युग' कहा है और आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने उपर्युक्त सभी नामों की तुलना में 'आदिकाल' कहना अधिक समीचीन समझा है। मुक्तिबोध 'आदिकाल' के नामकरण के विषय में विशेष रूचि नहीं लिए हैं। मुक्तिबोध साहित्य के इतिहास को तार्किक दृष्टि से परखते हैं। उन्होंने आदिकालीन साहित्य और इतिहास पर कोई स्वतंत्र पुस्तक नहीं लिखे हैं, अपितु साहित्य और सामाजिक संरचना के इतिहास के विषय में जिक्र के तौर पर कहीं-कहीं आलोचनात्मक स्वरूप में मिलता है। जैसे-आचार्य रामचन्द्र, शुक्ल ने 'हिंदी साहित्य का इतिहास' पुस्तक में 'वीरगाथा काल' नाम साहित्यिक प्रवृत्ति के आधार पर दिया गया है। मुक्तिबोध साहित्य की प्रवृत्ति और प्रकृति के संदर्भ में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल एवं हजारीप्रसाद द्विवेदी से भिन्न विचार रखते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार- "शिक्षित जनता की जिन-जिन प्रवृत्तियों के अनुसार हमारे साहित्य

स्वरूप में जो-जो परिवर्तन होते आए हैं, जिन-जिन प्रभावों की प्रेरणा से काव्यधारा की भिन्न-भिन्न शाखाएं फूटती रही है, उन सबके सम्यक निरूपण तथा उनकी दृष्टि से किए हुए सुसंगत कालविभाग के बिना साहित्य के इतिहास का सच्चा अध्ययन कठिन दिखाई पड़ता है।"[1]

किसी भी समाज का इतिहास शासक और समाज के बीच घटने वाले तत्वों पर निर्भर करता है। आदिकालीन इतिहास सामंत और राजशाही व्यवस्था के अतिरिक्त राजाओं के आपसी वर्चस्व एवं सीमा विस्तार का इतिहास है। तत्कालीन सामाजिक संस्कृति और परम्परा के बीच अनेकों उतार-चढ़ाव देखने को मिलता है, चाहे वह 'रासो साहित्य' का इतिहास हो या फिर जैन एवं बौद्ध साहित्य का रूपायन ही क्यों न हो।

इससे साहित्य के इतिहासबोध एवं उसकी शाश्वतता का भाव उजागर होता है। मुक्तिबोध का इस संदर्भ में विचार है- "वस्तुतः साहित्य की शाश्वता का प्रश्न परम्परा के रूपायन का प्रश्न है। हमारे पूर्वकालीन समाजों की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धियाँ जिन्हें हम अमर कहते हैं, इसीलिए हमारे लिए मूल्यवान हैं कि उनके भीतर समाये हुए जीवन-तत्वों को हम ने अपनी परम्परा में अन्तर्भूत कर लिया है।"[2]

परम्परा का रूपायन सभ्यता से आती है। सभ्यता के विकास में शासक और समाज के बीच का संबंध अंतर्निहित होता है। इतिहासबोध इन सभी पक्षों को सूक्ष्मता से उल्लेखित करता है। इस संदर्भ में 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल' के विचार दृष्टव्य है- "जनता की चित्तवृत्ति बहुत कुछ राजनीतिक, सामाजिक-सांप्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थिति के अनुसार होती है। अतः कारण स्वरूप इन

परिस्थितियों का किंचित दिग्दर्शन भी साथ ही साथ आवश्यक होता है। इस दृष्टि से हिंदी साहित्य का विवेचन करने में यह बात ध्यान रखनी होगी कि किसी विशेष समय में लोगों में रूचिविशेष का संचार और पोषण किधर से किस प्रकार हुआ।"[3] आदिकाल सामाजिक, सांस्कृतिक धार्मिक एवं राजनीतिक रूप से अस्थिर रहा। सम्राट हर्षवर्द्धन के समय से ही उत्तर भारत में यवन का आक्रमण आरंभ हो गया था। और लगातार अंतिम वर्द्धन साम्राज्य का भी पतन यवन प्रतिरोध में ही बीत गया। इसके पश्चात मुगलों का आक्रमण आरंभ हुआ। लगातार आक्रांताओं के आक्रमण और युद्धों के बीच प्रजा पीड़ित हो चुकी थी। पृथ्वीराज चौहान एवं जयचंद की लड़ाई इतिहासप्रसिद्ध है। चंदरवरदाई कृत 'पृथ्वीराजरासों' में इसकी ऐतिहासिक, राजनीतिक एवं काव्यगत विशेषताओं की झलक भी मिलती है।

धार्मिक स्वरूप में भी इस काल में बदलाव देखा गया है। वैदिक यज्ञ, मूर्तिपूजा, जैन एवं बौद्ध उपासना, तांत्रिक उपासना, आदि में इस समय के इतिहास का साक्ष्य है जो यह बोध करवाता है कि आदिकाल में धार्मिक आडंबर एवं कदाचार बढ़ता जिसके फलस्वरूप जनता ईश्वर एवं भक्ति के लिए अलग विकल्प का चयन किया।

सांस्कृतिक दृष्टि से आदिकाल का इतिहासबोध दो संस्कृतियों के संक्रमण एवं ह्रास-विकास को उजागर करता है। डॉ. रामगोपाल शर्मा दिनेश के अनुसार- "आदिकाल में भारतीय संस्कृति का जो स्वरूप मिलता है, वह परंपरागत गौरव से विच्छिन्न तथा मुस्लिम संस्कृति के गहरे प्रभाव से निर्मित है।"[4] तत्कालीन

समाज दो भिन्न सांस्कृतिक-राजनैतिक विस्तार की चपेट में था। समाज, शासक और सत्ता दोनों से प्रभावित होती है। जो आने वाले समाज के लिए आलोचनात्मक प्रतिबिंब का कार्य करती हैं। मुक्तिबोध, इस दृष्टि से समाज को तार्किक एवं रचनात्मक रूप में व्याख्यायित किए हैं। उनके अनुसार- "समाज की गतिशीलता में राजनैतिक प्रक्रियाओं में से एक है। समाज को विकासशील बनाने वाली अन्य महत्वपूर्ण प्रक्रिया है, सांस्कृतिक प्रक्रिया।"[5]

आदिकालीन साहित्य का इतिहासबोध उपर्युक्त कथन की प्रासंगिकता को उजागर करता है। आदिकालीन साहित्य बौद्ध धर्म के पतन, आदिशंकराचार्य का अद्वैत सिद्धांत एवं कुमारिलभट्ट आदि के विचार का भी दिग्दर्शन कराता है। आदिकालीन समाज का समाजशास्त्रीय विश्लेषण यह उजागर करता है, कि तत्कालीन समाज भिन्न-भिन्न संस्कृतियों, परंपराओं, में स्वयं को विच्छिन्न पाता है। इस संदर्भ में हजारीप्रसाद द्विवेदी के विचार दृष्टव्य हैं- "इतिहास, जो जीवंत मनुष्य के विकास की जीवन-कथा होता है, जो काल-प्रवाह से नित्य उद्घाटित होते रहने वाल नव-नव घटनाओं और परिस्थितियों के भीतर से मनुष्य की विजय-यात्रा का चित्र उपस्थित करता है और जो काव्य के परदे पर प्रतिफलित होने वाले नये-नये दृश्यों को हमारे सामने सहज भाव से उद्घाटित करता रहता है।"[6]

वस्तुतः 'आदिकाल और मुक्तिबोध का इतिहासबोध' दो भिन्न परिप्रेक्ष्यों को उजागर करता है। मुक्तिबोध इतिहास और इतिहासबोध को मानवेतिहास के संरचनात्मक विकास के रूप में देखते है। उसके अंतर्भूत घटनाओं एवं तत्वों का

विश्लेषण भी ऐतिहासिक-सांस्कृतिक एवं राजनैतिक संरचना में बदलाव के 'कारण' के रूप में व्याख्यायित हुआ है। 'भारत: इतिहास और संस्कृति' उपर्युक्त विवेचनाओं का तार्किक पक्ष उजागर करता है।

भक्तिकाल और मुक्तिबोध का इतिहासबोध

"राजनैतिक उलट-फेर होते रहते हैं, पर समाज में विकास की परम्परा चलती रहती है। ऊपर-ऊपर मुसलमान और हिंदू राजाओं में युद्ध-मुसलमान एक-दूसरे के साथ भातृ-भाव से रहने के प्रयत्न कर रहे थे। वे एक-दूसरे से विचारों, आदर्शों, प्रथाओं और धार्मिक मान्यताओं का आदान-प्रदान भी रहे थे।"[7] उपर्युक्त संदर्भ मुक्तिबोध ने मध्यकालीन इतिहास के संदर्भ में उचित प्रतीत होता है। समाज गतिशील होता है। वह अनेक प्रकार के घटनाओं एवं व्याघातों से बनता-बिगड़ता है और फिर पुनर्निमित होता है। आदिकाल जहाँ वीरता का वर्चश्व अपने चरम पर था वहीं समाज में आर्थिक कट्टरता भी फैल रहा था। भक्तिकाल का उदय दो भिन्न संस्कृतियों के बीच का काल था। इन दोनों भिन्न संस्कृतियों की धार्मिक मान्यताएं परंपरा एवं प्रवृतियाँ भी भिन्न थीं। भक्तिकाल में धार्मिक कट्टरता अलग-अलग वर्ग, वर्ण एवं संप्रदाय के बीच था। भक्तिकाल का उदय सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक अस्थिरता के बीच हुआ, जो इतिहास में सीधे-सीधे शासक और जनसामान्य के बीच के 'प्रतिरोध' को दर्शाता है।

हिंदी साहित्य के इतिहास में भक्तिकाल की उदय की व्याख्या अनेक इतिहासकारों ने अपनी-अपनी दृष्टि के अनुकूल किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जहाँ 'जनता की चित्तवृत्ति' केन्द्र, में हैं, वहीं आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने

'लोक-चिंता' को केन्द्र में रखा है। आचार्य शुक्ल को साहित्यिक परिप्रेक्ष्य में देखें तो स्पष्ट होता है कि उनकी साहित्यिक दृष्टि के केन्द्र में रखकर 'लोकमंगल' की भावना प्रमुख स्थान दिया है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भक्तिकाल के उदय के प्रमुख कारण 'इस्लाम का आगमन' माना है। इस्लाम के आगमन से पूर्व भी जनसामान्य के बीच उथल-पुथल था। इस्लाम का आगमन सिर्फ एक ऐतिहासिक घटना है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने शुक्लाजी के उक्त वक्तव्य को तर्कसंगत नहीं माना है। इस संदर्भ में उनका मानना है, भक्तिकाल का उदय 'महज भारतीय परम्परा का अपना स्वतः स्फूर्त्त विकास' है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के इतिहासबोध में 'लोकमत' की सामूहिकता का भाव है, जिसमें धर्म, सभ्यता, परम्परा आदि को समग्रता से देखा गया है। भक्तिकाल के उदय में 'जनसामान्य' की भूमिका अहम थी। किसी भी समाज के व्यापक परिवर्तन में जनसमूह का सहयोग मिलना आवश्यक है। तभी समाज में कोई भी परिवर्तन होता है एवं व्यवहारिक प्रयोग में भी आता है। भक्तिकाल में इन सभी पक्षों का उल्लेख अलग-अलग संदर्भ में हुआ है। मुक्तिबोध भक्तिकाल के इतिहासबोध एवं उसकी संरचनात्मक विकास को निम्न दृष्टि से अभिव्यक्त किया हैं- "मध्ययुग में संवेदनात्मक वर्ग से आये संत और कवि इस अर्जित ज्ञान-परम्परा या भाव-परम्परा में ही कुछ फेरफार करके अपने को उद्बुद्ध और सचेत पाते हैं। इस अर्जित ज्ञान परम्परा या भाव-परम्परा के ही कुछ तत्वों को (भक्तित्व को) अपने लिए उपयुक्त समझ, उसके आधार पर अपनी स्थिति संगठित करते हैं। जिनसे वे प्रतिकूल बातें खंडित हों। इस प्रकर वे, एक और, समाज के साथ सामजंस्य, तो दूसरी ओर उसके साथ-द्वंद्व-इन दोनों का

निर्माण करते हैं। समाज के साथ सामंजस्य और द्वंद्व ही यह युगपत प्रतिक्रिया हमें भक्ति-आंदोलन में परिलक्षित होती है। समाज के साथ सामंजस्य और द्वंद्व एक साथ उपस्थित करने वाले इस भक्ति-आंदोलन की विशेषता दृष्टव्य है।"[8]

मुक्तिबोध का उपर्युक्त प्रसंग ऐतिहासिक सामाजिक स्थिति को उजागर करता है। इतिहास में तत्कालीन सामाजिक स्थिति को में धर्म-सुधार आंदोलन के तौर पर भी माना जाता है। मध्ययुग के सामाजिक सुधार आंदोलन में अधिकांशतः निम्न वर्ग के संत थे। निम्न वर्ग के संतों को शास्त्रीय ज्ञान का अभाव था। मुक्तिबोध इसीलिए इनके ज्ञान को 'अर्जित ज्ञान परम्परा या भाव परम्परा' कहा है, क्योंकि निम्न वर्गीय संतों ने समाज में 'समभाव' विचार विाचर लाने के लिए व्यवहारिक दृष्टि को केन्द्र में रखा है। भक्ति की शास्त्रीय समझ जो उच्च वर्ग के लोगों एवं सामंतो को था, उसका निम्नवर्ग के संतों ने प्रतिरोध किया एवं जनसामान्य के बीच जनजागृति फैलायी। मुक्तिबोध ने भक्ति आंदोलन के इस प्रक्रिया को 'सामजंस्य और द्वंद्व की युगपत् प्रतिक्रिया' के रूप में व्याख्यायित किया है।

मुक्तिबोध साहित्य एवं इतिहास के परिप्रेक्ष्य में अर्जित ज्ञान परम्परा एवं द्वंद्व का सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक दोनेां दृष्टियों से मूल्यांकन किया है। इसीलिए इतिहास के घटक तत्व भी उनके मूल्यांकन एवं तर्क का आधार है। समाज और उसकी संरचना के विकास में द्वंद्व का स्थान महत्वपूर्ण भाग है। भक्तिकाल का समाजबोध, सामाजिक एवं सांस्कृतिक पुर्नत्थान का बोध कराता है, जिसमें 'मनुष्यत्व' की भावना केन्द्र में है। भक्तिकाल का समाज, जाति एवं

वर्गों में विभक्त था। तत्कालीन ऐतिहासिक प्रवृत्ति के संबंध में मुक्तिबोध का मानना है- "मैं यह समझता हूँ कि किसी भी साहित्य का ठीक-ठीक विश्लेषण तब तक नहीं हो सकता जब तक हम उस युग की मूल गतिमान सामाजिक शक्तियों से बननेवाले सांस्कृतिक इतिहास को ठीक-ठीक न जान ले। कबीर हमें अपेक्षित रूप से आधुनिक क्यों लगते हैं, इस मूल प्रश्न का मूल उत्तर भी उसी सांस्कृतिक इतिहास में छिपा है।" मुक्तिबोध के उपर्युक्त कथन में 'सांस्कृतिक इतिहास' एवं 'सामाजिक शक्ति' महतवपूर्ण तथ्य हैं। ये तथ्य किसी भी समाज के बदलते स्वरूप का केन्द्र बिंदु होता है। मध्यकालीन भारत अनेक प्रसंगों में राजशाही एवं सामंती-शक्ति से प्रतिनिधित्व करता समाज था। धार्मिक स्तर से मध्ययुगीन भारत में हिंदू, मुसलमान एवं सिक्ख आदि अनेक धर्म में समाज विभक्त था। धार्मिक कट्टरता एवं पाखंड भी तत्कालीन समाज में बढ़ता गया। तत्कालीन समाज का अधिकांश सम्मानित वर्ग मुसलमानों का था, जो शासक वर्ग के विशेष समूह से संबंध रखता था। इसीलिए ये वर्ग अधिक प्रभुत्वशाली एवं विशेषाधिकार युक्त थे। विदेशी मुसलमानों में तुर्क, ईरानी, अरब, अफगान आदि थे। दूसरा वर्ग भारतीय मुसलमान था जो अधिकांशतः हिंदू से मुस्लिम धर्म में धर्मांतरित हुआ। अर्थात् दो भिन्न संस्कृतियों के बीच धर्मांतरण और सामाजिक जीवन पर पड़ने वाला प्रभाव भी संतोषजनक नहीं था। इसीलिए मुक्तिबोध गतिमान सामाजिक-सांस्कृतिक इतिहास के द्वंद्व को कहना ठीक समझते हैं। हिंदू समाज वर्ण एवं जाति में विभक्त था, जो भिन्न-भिन्न काल के प्रवाह में भिन्न-भिन्न स्वरूप में सामने आया। हिंदू और मुस्लिम दोनों सामंती समाज था, जिसमें दास-प्रथा प्रचलित थी। जैसे-फिरोज तुगलक दासों का बड़ा शौकीन था। कुतुबुद्दीन ऐबक,

इल्तुतमिश और मलिक काफूर जैसे दासों ने भी तत्कालीन इतिहास में बड़ा नाम कमाया। तत्कालीन समाज में स्त्रियों की दशा संतोषजनक नहीं थी। आमलोगों में एक स्त्री का एक पुरुष से विवाह की प्रथा प्रचलित थी, परंतु प्रभुत्वशाली वर्ग का वर्चश्व समाज में धीरे-धीरे बढ़ता गया और सामाजिक संरचना में परिवर्तन होता गया। सामंती समाज जागीरदारी सभ्यता का पोषक होता है। जिसमें निम्न वर्ग का शोषण बड़ी आसानी से किया जाता है। यह आर्थिक एवं सामाजिक स्तर पर अधिक होता है। भक्तिकालीन इतिहासबोध में सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक शोषण के विरूद्ध 'प्रतिरोध की ध्वनि' है, जो तत्कालीन संतकवियों के 'बाणियों' से जाहिर होता है।

मुक्तिबोध भक्तिकाल के इतिहास एवं साहित्य की विवेचना में सामाजिक एवं सांस्कृतिक शक्ति को भी अहम माना है- "ब्राह्मणेतर संत-कवि की काव्य भावना अधिक जनतंत्रात्मक सर्वांगीण और मानवीय थी। निचली जातियों की आत्म-प्रस्थापन के उसे युग में कट्टर पुराणपंथियों ने जो-जो तकलीफे इन संतो को दी हैं, उनसे ज्ञानेश्वर जैसे प्रचण्ड प्रतिभावान संत का जीवन अत्यन्त करूण कष्टमय और भयंकर दृढ़ हो गया। उनका प्रसिद्ध ग्रंथ ज्ञानेश्वरी तीन-सौ वर्षों तक छिपा रहा। उक्त ग्रंथ की कीर्ति का इतिहास तो तब से शुरू होता है जब वह पुनः प्राप्त हुआ। यह स्पष्ट है कि समाज के कट्टरपंथियों ने इन संतो को अत्यन्त कष्ट दिया। इन कष्टों का क्या कारण था? और ऐसी क्या बात हुई कि जिस कारण निम्न जातियाँ अपने संतो को लेकर राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक क्षेत्र में कूद पड़ी?"[10] मध्ययुगीन भारत अर्थात् भक्तिकाल में प्रभुत्वशाली वर्ग का वर्चस्व निम्न वर्ग के लोगों पर था। निम्न वर्ग अपनी मूलभूत आवश्यकताओं एवं

अधिकारों के लिए संघर्षरत थी। 'गोस्वामी तुलसीदास और मध्यकालीन भारत' नामक निबंध में डॉ. रामविलास शर्मा ने अकबरकालीन और जहागीरकालीन भारत के सामाजिक, राजनैतिक एवं आर्थिक संरचना की व्याख्या की है। उस समय की भूमि संबंधी कर व्यवस्था, किसान और सामंत के बीच का संघर्ष, सामंत और राजसत्ता के बीच का संघर्ष और निम्नवर्ग एवं जाति के लोगों के साथ शोषण अधिक हो रहा था- "हमने मध्यकाल के जिन सुनहले स्वप्नों की कल्पना कर रहे हैं, वो वास्तविकता की भूमि पर चूर हो जाते हैं। उस समय का मुख्य संघर्ष सामंत और किसान के बीच था। ज्यों-ज्यों हम औरंगजेब की ओर बढ़ते है, त्यों-त्यों संघर्ष तीव्र होता जाता है।"[11]

मुक्तिबोध की दृष्टि रामविलास शर्मा के ऐतिहासिक दृष्टि से भिन्न हैं- "राजनैतिक दृष्टि, यह जनता हिंदू-मुस्लिम दोनों प्रकार के सामंती उच्चवर्गीय से पीड़ित रही। संतो की व्यापक मानवतावादी वाणी ने उन्हें बल दिया। कीर्तन-गायन ने उनके जीवन में रस संचार किया। ज्ञानेश्वर, तुकाराम आदि संतों ने गरीब किसान और अन्य जनता का मार्ग प्रशस्त किया।"[12] मुक्तिबोध ने सामाजिक तौर पर सामंती स्थिति को दोनों धर्मों के उच्चवर्गीय लोगों की ओर इंगित किया है। तत्कालीन संत समाज के विकास में तत्कालीन परिस्थितियों की प्रमुख भूमिका रही है। चाहे वह, किसान, कास्तकार, बनिया एवं गरीब मजदूर क्यों न हो, इन सभी वर्गों के लोगों ने सामंती व्यवस्था के खिलाफ आवाज उठायी। इसीलिए मुक्तिबोध जनसामान्य को व्यापक दृष्टि से देखते हैं एवं उसके प्रति संवेदनशीलता जाहिर करते हैं। अन्य आलोचकों की तुलना में मुक्तिबोध का इतिहासबोध एवं समाजबोध तार्किक एवं प्रासंगिक भी है।

वे समाज में शासन व्यवस्था के बदलने से सामाजिक परिवर्तन एवं उसके गतिशीलता के आधार बिंदु को रेखांकित किये हैं। समाज गतिशील होता है, लेकिन उसके अंतर्भूत घटक के बीच का परिवर्तन समाज और इति3हास दोनों निर्धारित करता है। अकबर, जहाँगीर और औरंगजेब तक आते-आते भारत के सामाजिक-आर्थिक संरचना में काफी बदलाव देखा गया। मालगुजारी एवं कर व्यवस्था में भी क्षेत्रीय तौर पर धाँधली होना शुरू हुआ, जिसकी वजह से छोटे-किसान एवं मजदूर वर्ग का जीवन कष्टप्रद होता चला गया। इतिहास के इन तमाम घटनाओं को देखें तो साफ जाहिर होता है कि सामाजिक स्तर पर असंतोष तत्कालीन व्यवस्था के प्रति था, जिसके फलस्वरूप भक्ति, आंदोलन में परिवर्तित हो गया और इस परिवर्तन में समाज के सभी वर्गों के लोगों ने भाग लिया। इस संबंध में मुक्तिबोध के विचार दृष्टव्य हैं- "किन्तु भक्ति-आंदोलन का जनसाधारण पर जितना व्यापक प्रभाव हुआ उतना किसी अन्य आंदोलन पर नहीं। पहली बार शूद्रों ने अपने संत पैदा किये, अपना साहित्य और अपने गीत सृजित किये। कबीर, रैदास, नाभा, सिंपी, सेना नाई, आदि-आदि महापुरूषों ने ईश्वर के नाम पर जातिवाद के विरूद्ध आवाज बुलंद की।"[13] भारतीय सामाजिक संरचना में जाति व्यवस्था का चित्रण वर्ण व्यवस्था के टूटने के पश्चात् अधिक हुआ। समाज में वर्ग वर्ण एवं जाति तीन रूपों में विभक्त हो गया। सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक असंतोष के बीच परिवर्तन स्वभाविक था। कबीर, तुलसी, मीराबाई, रैदास इन सभी समाज-सुधारकों जनसमुदाय के बीच सुधार हेतु 'जनवाणी' का चयन किया। डॉ. रामविलास ने संत-साहित्य के विकास को सामाजिक परिस्थिति के रूप में स्वीकारा है एवं शास्त्रीयता एवं ब्राह्मणवादी व्यवस्था से कोसो दूर

बताया है। मुक्तिबोध सामाजिक परिस्थिति के साथ सामाजिक शक्तियों के संचालनकर्त्ता को केन्द्रित किया है। शासक और सामंत के बीच के गठजोड़ को भी उजागर किया है। मुक्तिबोध की दृष्टि में तुलसी की अपेक्षा कबीर ज्यादा आधुनिक है। कबीर स्वभाव से ही अक्कखड़ प्रवृत्ति के थे। उनकी 'वाणियों' में जितनी फटकार पंडितो को है, उतनी ही मौलवियों को।

भक्तिकाल में दो धारा के कवि हैं- निर्गुणा एवं सगुण धारा के कवि। निर्गुणधारा के कवियों में कबीर, दादू, नानक रैदास आदि कवि हैं, वहीं तुलसी, मीरा, सूरदास, रसखान आदि सगुण धारा के कवि हैं। मुक्तिबोध मुख्य रूप से निर्गुण धारा एवं सगुणधारा के अंतर्गत रामकाव्य परंपरा के कवि कृष्णकाव्य के अंतर्गत आने वाले कवियों का विवेचन किया है। मुक्तिबोध की दृष्टि में रामभक्ति शाखा की तुलना में कृष्णभक्ति शाखा के कवि सामाजिक रूप से अधिक समावेशी है। तुलसी को मुक्तिबोध ने वर्णाश्रम व्यवस्था को पुनर्विजयी करने वाला बताया है। तुलसी को अन्य आलोचक भिन्न दृष्टि से देखते हैं। डॉ. रामविलास शर्मा ने तुलसी को 'जातीय-जनजागरण का सर्वश्रेष्ठ' कवि कहा है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने तुलसी को 'भारतीय जनता का प्रतिनिधि' कवि कहा है। तुलसी के 'रामचरितमानस' में वर्ण, वर्ग एवं जाति की संरचना साफ-साफ जाहिर होता है। रामचरितमानस में, राम, निषाद, गुह आदि के चरित्रों एवं कार्यों का चित्रण तुलसीदास ने सजीवता से किया है। तुलसी के राम मुक्तिबोध की दृष्टि में भारतीय वर्णाश्रम व्यवस्था एवं सामाजिक दायरा से बंधा हुआ है। इसीलिए सगुण भक्तिधारा में जब रामभक्ति शाखा का विवेचन और मूल्यांकन किया जाता है, तब उसमें निम्नजातीय लोगों की भागीदारी कम है। समाज में समावेशी एवं

समभाव का वातावरण होना चाहिए। उसमें धर्म, जाति एवं वर्ण की ऊँच नीच की दृष्टि का कोई स्थान नहीं होना चाहिए।

तुलसी की तुलना में कबीर के विचार अधिक आधुनिक एवं प्रासंगिक हैं। वे निर्गुण भक्तिधारा के सबसे प्रखर समाज-सुधारक और कवि रहे हैं। उनकी 'वाणियों' में समाज के प्रत्येक वर्ग की अनुभूति है। कबीर की उद्घोषणा में धर्म, जाति एवं संप्रदाय का सामाजिक दायरा नहीं है। वह सामंती एवं पुराणपंथी ब्राह्मणवादी व्यवस्था पर कुठाराघात किया है, इसीलिए उनकी बाणियों में 'मनुष्य-तत्व' की उद्घोषणा हुई है। मुक्तिबोध की दृष्टि में कबीर का मनुष्य-सत्य की घोषणा क्रांतिकारी है। कबीर निम्न वर्ग के स्वर को जनता के सामने मुखरता से रखा। वे धार्मिक अंधविश्वास, जाति-पाति, कठमुल्लापन एवं छूआछूत के विरूद्ध जनसामान्य के बीच उन्हीं के शब्दों में अपनी बात कही, जिसके कारण आम जनता में जागृति फैली। कबीर धर्म के विरूद्ध नहीं थे। वे हिंदू-मुस्लिम एवं अन्य धर्मों में फैले धार्मिक कुरीति के खिलाफ थे। इसीलिए कबीर 'निरगुण राम निरगुण राम जपहु रे भाई' की उद्घोषणा करते हैं। कबीर के राम 'निरगुण राम' है, जो निरंकार है। कबीर के राम और रहीम की उद्घोषणा में सर्वधर्म समभाव एवं लोकतत्व की भावना उजागर होती है। कबीर "मुलाँ कहाँ पुकारै दूरि, राँम रहीम रह्या भरपूरि" की इस उक्ति में 'राम-रहीम' के बीच कोई फर्क नहीं है। वे 'मानुष धर्म' के बीच समभाव की जागृति लाना चाहते थे। इसीलिए उनकी सामाजिक उद्घोषणा आज भी प्रासंगिक एवं आधुनिक है। मुक्तिबोध ने इस संबंध में ठीक ही कहा है- "निष्कर्ष यह है कि जो भक्ति-आंदोलन जनसाधारण से शुरू हुआ और जिसमें सामाजिक कट्टरपन के विरूद्ध जनसाधारण की सांस्कृतिक आशा-

आकांक्षाएँ बोलती थीं, उसका 'मनुष्य-सत्य बोलता था, उसी भक्ति-आंदोलन को उच्च-वर्गीयों ने आगे चलकर अपनी तरह बना लिया, और उससे समझौता करके, फिर उस पर अपना प्रभाव कायम करके, और अनन्तर जनता के अपने तत्वों को उनमें से निकालकर, उन्होंने उसपर अपना पूरा प्रभुत्व स्थापित कर लिया।"[14]

मुक्तिबोध के उपर्युक्त कथन में निम्नवर्गीय 'सांस्कृतिक आशा एवं आकांक्षा' को इंगित किया है। किसी भी समाज में परिवर्तन तभी गतिमान होती है जब वह जनसमुदाय के सहयोग से हो। भक्तिकाल का जनसमुदाय इस परिवर्तन का आधार बना। इस संदर्भ में डॉ. रामविलास शर्मा के विचार द्रष्टव्य है "इस भक्ति-आंदोलन की पहली विशेषता यह है कि वह अखिल भारतीय है। देश और काल की दृष्टि से ऐसा व्यापक सांस्कृतिक-आंदोलन संसार में दूसरा नहीं है।"[15]

वस्तुतः भक्तिकाल सामाजिक एवं सांस्कृतिक रूप से जनसामान्य की जागृति का काल था। जिसमें सभी धर्मों, वर्णों एवं वर्गों की भागीदारी थी। तत्कालीन संत कवियों ने जनसामान्य को एकसूत्र में बाँधने का प्रयास किया एवं सामंती ढाँचा के खिलाफ संघर्ष शुरू किया। साहित्य के इतिहास में जब सामंती एवं राजशाही व्यवस्था के खिलाफ जब 'जनविद्रोह' की बात होती है, तब 'भक्तिकाल' को अलग-अलग परिप्रेक्ष्य में व्याख्यायित किया जाता है। भक्तिकाल में पहली बार भारतीय स्त्रियाँ घर से बाहर निकली और सामंती समाज में स्त्रियों की आवाज को पुरुषों के समकक्ष अभिव्यक्त की, चाहे वह ललद्यद हो, तमिलनाडु की आंडाल, कर्नाटक की अक्का महादेवी और राजस्थान की

मीराबाई ही क्यों न हों। इन सभी स्त्री संत कवयित्रियों ने स्त्री स्वर को समाज में मुखरता से आगे लाने का काम किया। आधुनिक संदर्भ में जब मीरा की बात होती है, तब स्त्री स्वतंत्रता एवं उसके मूलभूत अधिकार को भी नयी दृष्टि से देखने का प्रयास किया जाता है। सामंती समाज मूलभूत अधिकारों का दमन करता है। मुक्तिबोध ने ऐतिहासिक दृष्टि से भक्तिकाल को 'उच्चवर्गीय शक्ति' के रूप में बार-बार रेखांकित किया है। साथ ही साथ वर्णाश्रम व्यवस्था के बीच शासक और सामंत किसप्रकार गठजोड़ बनाते हैं, उसका भी तर्कसंगत मूल्यांकन किया है। भक्तिकालीन सामाजिक परिस्थितियाँ अनेक प्रसंगों में भिन्न हैं चाहे वह इतिहास या समाजशास्त्र के पहलू से देखें तो साफ जाहिर होता कि सत्ता और समाज के बीच व्यापक असंतोष था। यह असंतोष सामाजिक आर्थिक एवं सांस्कृतिक आदि के तौर पर देखा गया है। इसीलिए मुक्तिबोध 'सांस्कृतिक आशा एवं आकांक्षा' की बात करते हैं। मुक्तिबोध की दृष्टि में सच्ची जनवादी सामाजिकता का प्रादुर्भाव एक 'Organic Society' के पुनर्जागरण के बाद ही संभव है। मुक्तिबोध की दृष्टि में इसीलिए तुलसी की अपेक्षा कबीर अधिक क्रांतिकारी हैं। भक्तिआंदोलन जनसांस्कृतिक चेतना का काल था, जिसमें 'सर्वधर्म समभाव' एवं 'जनसामान्य की उद्घोषणा' का स्वर साफ जाहिर होता है।

रीतिकाल और मुक्तिबोध का इतिहासबोध

आचार्य राचमचन्द्र शुक्ल ने हिंदी साहित्य में 'उत्तरमध्यकाल' की समयावधि संवत् 1700-1900 माना है। हिंदी साहित्य के इतिहासकारों ने भी

इस काल को अलग-अलग नामों से अभिहित किया है। मिश्रबंधुओं ने 'अलंकृतकाल', आचार्य रामचन्द्र शुक्ल 'रीतिकाल' आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने 'श्रृंगार काल' कहा है। उपर्युक्त नामकरण साहित्येतिहासकारों ने तत्कालीन इतिहास एवं साहित्य के स्वरूप को केन्द्र में रखकर किया है। इस संबंध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के विचार उचित प्रतीत होता है- "वास्तव में श्रृंगार और वीर इन्हीं दो रसों की कविता इस काल में हुई। प्रधानता श्रृंगार की ही रही। इससे इस काल को इस के विचार से कोई श्रृंगारकाल कहे तो कह सकता है। श्रृंगार के वर्णन को बहुतेरे कवियों ने अश्लीलता की सीमा तक पहुँचा दिया। इसका कारण जनता की रूचि नहीं, आश्रयदाता राजा-महाराजाओं की रूचि थी जिनके लिए कर्मण्यता और वीरता का जीवन बहुत कम रह गया था।"[16] उत्तरमध्यकाल की सामाजिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक परिस्थिति जड़तापूर्ण एवं रूढ़िग्रस्त हो चुकी थी। तत्कालीन समाज के इतिहास को अगर सूक्ष्म रूप से व्याख्यायित करते हैं, तो यह साफ जाहिर होता है कि तत्कालीन राजशाही और सामंती ढाँचा के बीच आपसी समझौता था।

उत्तरमध्यकालीन समाज का जनसामान्य वर्ग राजाओं और सामंतों के निरंकुशताओं का शिकार था। राजा और सामंत सामान्य जन के विषय में चिंचित नहीं थे। धार्मिक स्तर भी दिन-ब-दिन क्षीण होता चला गया। आर्थिक दृष्टि से भी समाज मुख्य रूप से दो वर्गों में विभक्त होता दिखाई पड़ता है। एक तो भोक्तवर्ग जिसमें राजा, नबाब, अमीर, उमराव, मंसवदार एवं सामंत आदि थे। दूसरा वर्ग था- उत्पादकों का वर्ग जिसमें नौकरी-पेशा के लोग, श्रमिक, कृषक, बढ़ई, लोहार, कहार, जुलाहा आदि आते हैं। भोक्ता और उत्पादक वर्ग के बीच का

व्यवधान थोड़ा न था, वह समय के साथ और भी बढ़ता ही चला गया। यह व्यवधान शासक और शोषित के बीच का था।

मुक्तिबोध इन्हीं शासक एवं शोषित समाज का सूक्ष्म विवेचन करते हैं। उनका इतिहास और समाजबोध दोनों दृष्टि से तर्कसंगत है। इतिहास दिन-प्रतिदिन के घटनाओं का संचयन है और उस घटना का केन्द्र है- समाज और सामाजिक तत्व। रीतिकालीन सामंती व्यवस्था में भोक्ता वर्ग राजा के आश्रय एवं ऐश्वर्य का महात्वाकांक्षी वर्ग था। इसीलिए इस युग में जितनी श्रृंगारिक रचनाएं हुई, उतनी अन्य कालखंड में अपेक्षाकृत कम हैं। इस संबंध में मुक्तिबोध के विचार उचित प्रतीत होता है- "हिंदी का श्रृंगारी रीतिकाल तत्कालीन निम्न वर्गों की वृत्तियों को सूचित नहीं करता। उसकी वासनामूलक श्रृंगारिकता का जन्म तथा विकास एक विशेष सामंती वर्ग की विशेष विकास-स्थिति से ही हुआ। अतएव, युग-स्थिति का सच्चा अर्थ है उस विशेष श्रेणी की स्थिति जो सांस्कृतिक साहित्यिक क्षेत्र का नेत्तृत्व करनेवाली श्रेणी पर राजनैतिक शासन होता है।"[17] मुक्तिबोध ने तत्कालीन इतिहास के प्रवृतिमूलक तत्वों की ओर इशारा किया है। अर्थात् भोक्ता वर्ग का शोषण बढ़ता गया और जनसमुदाय का सामाजिक एवं आर्थिक स्तर से बल क्षीण होता गया। मुगलकालीन भारत का इतिहास अनेक प्रसंगों में अलग-अलग दौर से गुजरा है। अकबर का भारत जहाँगीर और शाहजहाँ के भारत से भिन्न था और औरंगजेब के समय धार्मिक असहिष्णुता और भी बढ़ता गया। इसीलिए साहित्य में प्रवृत्ति अनायास नहीं आती है। वह प्रभुत्वर्ग एवं जनवर्ग के द्वंद्व को भी उद्घाटित करती है। रीतिकाल का साहित्यिक स्वरूप भोक्ता वर्ग के प्रवृत्ति को उजागर किया है। इसीलिए इस युग की रचनाओं में लौकिकता,

ऐन्द्रिकता एवं ऐहिकता का भाव अधिक है। राजा की प्रशंसा उसके ऐश्वर्य एवं रूपों के वर्णन में कवि अपनी महानता समझते थे। राज्याश्रित कवि राज-दरबार की शोभा के अनुकूल अपनी रचना रचते थे। तत्कालीन साहित्य एवं इतिहास में जनसमुदाय केन्द्र में नहीं था। इसीलिए साहित्य के केन्द्र में राजा और राजशाही व्यवस्था का बखान अधिक मिलता है। मुक्तिबोध जनसरोकार को महत्व देते हैं। जहाँ जनसरोकार केन्द्र में नहीं होता है, वहाँ सामान्य जन की उपेक्षा और शोषण स्वतः होने लगती है। धार्मिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक स्तर से समाज दिशाहीन हो जाता है और साहित्य भी ह्रासग्रस्त होने लगता है। मुक्तिबोध के अनुसार- "किंतु उसी समाज में यह भी होता है कि लेखक ह्रासग्रस्त शोषकवर्ग की प्रवृत्ति में हो रहकर कला का सृजन करता है। तब उसकी कला स्वयं ह्रासग्रस्त हो जाता है। साहित्यिक ह्रास के सभी चिन्ह उसमें मौजूद होते हैं। उदाहरण के लिए मार्शेल प्रस्त का साहित्य। इसका अर्थ कदापि नहीं कि शुद्ध कलात्मक दृष्टि से, अनिवार्यतः, ह्रासकालीन साहित्य निकृष्ट होता है, वरन् यह कि मानव के स्वरूप का आकलन उस साहित्य में एकांगी, दूषित और आस्थाहीन होता है। हमारा रीतिकालीन साहित्य भी इसीप्रकार का है।"[18]

मुक्तिबोध साहित्य की निकृष्टता का आधार रचनागत स्वरूप को लेकर कहा है। रीतिकालीन साहित्य को उन्होंने 'ह्रासग्रस्त' कहा है, क्योंकि कला की स्वायत्तता जनसमुदाय के सरोकार से जुड़ी होती है। उसमें निकृष्टता तब आती है जब समाज उदार नहीं होता है। धार्मिक एवं राजनैतिक रूप से भोक्ता वर्ग का जब वर्चश्व बढ़ता तब साहित्य और इतिहास में सत्तापक्ष या शाहीपक्ष के स्तर की रचना सामने आती है।

रीतिकाल का इतिहास धार्मिक स्तर से भी ह्रास का इतिहास है। सामाजिक एवं धार्मिक स्तर से समाज में, भोक्ता वर्ग, उत्पादक वर्ग, उच्च वर्ग एवं जाति आदि में विभक्त था। अवध, बुंदेलखंड और राजस्थान का शाही घराना इस रीतिकाव्य परंपरा के पोषण का केन्द्र था। स्त्री उपभोग की वस्तु मात्र थी। उसके श्रृंगार का सूक्ष्मतम विवेचन 'बिहारी सतसई' में देखने को मिलता है। इस संबंध में डॉ. नगेन्द्र के विचार दृष्टव्य हैं- "मठ और मंदिर देवदासियों और मुरलियों के चरणों की छन-छन से गूँजते रहते थे।"[19] सामाजिक स्तर पर हिंदू और मुसलमान दोनों में धर्म भीरूता बढ़ता गया। धर्म के प्रति आस्था और भावना दोनों में कमी आई। इस संदर्भ में डॉ. नगेन्द्र का कहना है- "संपंन हिंदुओं में धर्म के प्रति आस्था तो निःशेष हो चुकी थी, केवल धर्म-भीरूता शेष थी। इस युग के सम्राटों का दृष्टिकोण पूर्णतः ऐहिक था और उनके प्रभाववश उसके निकट संपर्क में आने वाले उच्च वर्ग और संपंन मध्य वर्ग का भी यही दृष्टिकोण को गया था।"[20]

वस्तुतः तत्कालीन समाजिक संरचना में उच्च वर्ग और संपन्न मध्य वर्ग के बीच खाइंया बढ़ती ही गयी और सामान्य जन इन दोनों की संरचना से बाहर था। इसीलिए दिन-प्रतिदिन राजा और सामंत दोनों की आर्थिक स्थिति भी बदतर होती चली गई और दोनों कर्म के बजाय भोग-विलास और चारण कार्यों में रूचि लेने लगा। इस स्थिति में समाज स्वतः गतिविहीन एवं दिशाहीन हो जाता है, जिसे हम पतन की संज्ञा से अभिहित करते है। इस संबंध में मुक्तिबोध का सामाजिक संदर्भ प्रासंगिक है- "मानव का रूप और तत्सम्बन्धी भावना जो हमें रीतिकाल में दिखाई देती है, वह उत्थानशील समाज की विशेषता कदापि नहीं हो सकती।"[21]

उत्थानशील समाज सकारात्मक दिशा में प्रगतिशील होता है। रीतिकाल का इतिहास प्रभुत्वशाली भोक्ता एवं शाही घराने के वर्गों का इतिहास है, जिसमें, निम्नवर्ग, स्त्री समुदाय, किसान, एवं दास शोषित वर्ग है। रीतिकाल में स्त्री के सौन्दर्य का वर्णन सूक्ष्मता को किया गया है। स्त्री के दैहिक सौन्दर्य का वर्णन, कवि की रचना का प्रमुख केन्द्र बिंदु था। नायिकाभेद, नखसिख वर्णन, इत्यादि साहित्य का केन्द्रबिंदु था। इस संबंध में मुक्तिबोध के विचार द्रष्टव्य हैं- स्त्री के प्रति पुरूष का मूलभूत दृष्टिकोण प्रजोत्पादन तथा काम का दृष्टिकोण था। नारी उपभोग्या हुई, तथा साहित्य में उसके इस उपभोग्या रूप का रस ले-लेकर वर्णन किया जाने लगा।"[22] रीतिकालीन समाज में स्त्री सौन्दर्य साहित्य का केन्द्र बिंदु था, 'स्त्रीत्व' की दृष्टि से मूल्यांकन किया जाता है तो निराशा ही हाथ लगती है।

यूँ तो साहित्य एवं कला के कलात्मक दृष्टि से रीतिकाल का इतिहास उच्च हो सकता है क्योंकि कलात्मकता एवं वैचारिकता दोनों अलग-अलग पक्ष को व्याख्यायित करता है। इस संदर्भ में मुक्तिबोध का मानना है- "शुद्ध कलात्मक दृष्टि से ह्रासकालीन ह्रासग्रस्त साहित्य उच्च भी हो सकता है, जैसे देव मतिराम और बिहारी का साहित्य। किंतु उसके गुणों को देखकर यही कहा जा सकता है कि वह मानव-साहित्य नहीं, प्रवृत्ति-साहित्य है, उत्थान साहित्य नहीं, ह्रास-साहित्य है।"[23]

मुक्तिबोध साहित्यिक दृष्टि से कलात्मकता एवं उसकी स्वायत्तता को अहम मानते हैं। 'मानव-साहित्य' एक व्यापक जनसमुदाय के सुख-दुख, आशा-निराशा, उत्थान-पतन इत्यादि को अभिव्यंजित करता है। रीतिकाल का

साहित्यिक केन्द्र बिंदु उच्च वर्ग एवं शाही घराना का मानव है, जो भोग, विकास एवं ऐश्वर्य प्रसाधन का प्रशंसक है। राज्यश्रित कवि एवं चारण भी इसी का गुणगान करने में स्वयं को प्रतिभासंपन्न एवं योग्य समझते थे। सामंती व्यवस्था का यह युग चरमोत्कर्ष का युग था।

17वीं शताब्दी तक आते-आते सामाजिक एवं धार्मिक स्वरूपों में काफी परिवर्तन होता चला गया। भक्तिकाल में धर्म में जो सुधार हुआ, रीतिकाल में वह क्षीण होता गया। कृष्ण और गोपियों के श्रृंगार का लौकिक एवं ऐहिक वर्णन अत्यधिक होने लगा। इसका परिणाम यह हुआ कि कृष्ण की भक्ति अब भक्ति नहीं, अपितु लौकिक श्रृंगार वर्णन का विषयवस्तु बन गया। इस संबंध में डॉ. नगेन्द्र के विचार द्रष्टव्य हैं- "धर्म की आंतरिक आत्मिक शक्ति क्षीण हो गई। बाह्य विलास और प्रसाधन बढ़ गए और विलासी लोग धर्म के उन्हीं श्रृंगारपरक रूपों की ओर आकृष्ट होने लगे, जिनमें उनके अपने विलासपूर्ण जीवन का समर्थन मिलता था। इस प्रकार इस युग में धर्म का स्वस्थ दार्शनिक आधार सर्वथा नष्ट-भ्रष्ट हो गया था।"[24]

मुक्तिबोध रीतिकालीन साहित्य के इतिहास एवं उसके प्रवृत्तिमूलक तत्वों का विवेचन तर्कसंगत रूप से किए हैं। उनका इतिहासबोध, तत्कालीन समाज, साहित्य एवं इतिहास में तीनों स्वरूपों का विवेचन शामिल है। इतिहासबोध समाज और सामाजिक संरचना दोनों को व्याख्यायित करता है। साहित्य उसके समस्त तत्वों से संदर्भित करता है। इसीलिए मुक्तिबोध साहित्य के प्रवृत्तिमूलक इतिहास की विवेचना करते हैं। रीतिकालीन व्यवस्था सामंती व्यवस्था थी। उस

सामंती व्यवस्था का ऐश्वर्य भोक्ता वर्ग के पास था। जनसमुदाय अधिकारविहीन एवं अर्थविहीन था। इसीलिए भोक्ता एवं उत्पादक वर्ग के बीच की आर्थिक स्थिति एवं स्तर दोनों में बहुत अंतर था।

मुक्तिबोध रीतिकालीन साहित्य को ह्रास साहित्य कहते हैं, क्योंकि तत्कालीन साहित्य में 'जनसमुदाय' केन्द्र में नहीं था। धीरे-धीरे सामंत और राजा भी कमजोर पड़ने लगा और विदेशी एवं व्यापारी का आगमन, उससे आपसी समझौता, राजशाही व्यवस्था की जरूरत हो गई। मुक्तिबोध इन समस्त पक्षों को युग परिवर्तन और साहित्य में रूचि के तौर देखते हैं। जैसे आदिकाल का वीरतापरक काव्य, भक्तिकाल का समाज-सुधार एवं रीतिकाल का श्रृंगारिक काव्य। इन तीनों कालखंडों में जनसमुदाय का घोर संघर्ष रहा है। उसके भीतर का वर्ग-संघर्ष भी हमेशा सक्रिय रहा। इसीलिए इतिहास और इतिहासबोध में घटना का 'कार्य-कारण' संबंध एवं द्वंद्व दोनों महत्वपूर्ण माना जाता है। भारतीय समाज वर्ण, वर्ग एवं जाति तीनों में विभक्त समाज है, जो इतिहास के अलग-अलग कालखंडों में हम अलग-अलग स्वरूप में देखते हैं। इन तीनों के बीच संघर्ष भी रहा है। इस संबंध में मुक्तिबोध के विचार प्रासंगिक है- "जो वर्ग-संस्कृति के क्षेत्र में सक्रिय है, वह अपने वर्ग-संबंधों के भीतर उपस्थित मानव संबंधों को ध्यान में रख, अपनी विशेष स्थिति और अवस्था के अनुसार, अपनी विशेष प्रवृत्तियाँ प्रकट करता है। उदाहरणतः हिंदी साहित्य के सामंती काल में वीर, श्रृंगार और अध्यात्म- ये तीन ही विषय आवृत और पुनरावृत होते रहे।"[25]

संदर्भ

1. शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र; हिंदी साहित्य का इतिहास; कांति पब्लिकेशन्स, दिल्ली; संस्करण: 2011, पृ. सं.- 5

2. जैन, नेमिचन्द्र; मुक्तिबोध रचनावली (खण्ड-5); राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण: 1986, तीसरी आवृत्ति:2011, पृ. सं.- 65

3. शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र; हिंदी साहित्य का इतिहास; कांति पब्लिकेशन्स, दिल्ली; संस्करण: 2011, पृ. सं.- 521

4. डॉ. नगेन्द्र (संपा.); हिन्दी साहित्य का इतिहास; मयूर पेपरबैक्स, नोएडा; संस्करण: 2012, पृ. सं.- 54

5. 'मुक्तिबोध', गजानन माधव; भारत: इतिहास और संस्कृति; राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली; संस्करण: 2014, पृ. सं.- 13

6. द्विवेदी, आचार्य हजारीप्रसाद; हिन्दी साहित्य का आदिकाल; वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली; संस्करण: 2006, पृ. सं.- 110

7. 'मुक्तिबोध', गजानन माधव; भारत: इतिहास और संस्कृति; राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली; संस्करण: 2014, पृ. सं.- 13

8. जैन, नेमिचन्द्र; मुक्तिबोध रचनावली (खण्ड-5); राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण: 1986, तीसरी आवृत्ति:2011, पृ. सं.- 111

9. जैन, नेमिचन्द्र; मुक्तिबोध रचनावली (खण्ड-5); राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण: 1986, तीसरी आवृत्ति:2011, पृ. सं.- 289

10. जैन, नेमिचन्द्र; मुक्तिबोध रचनावली (खण्ड-5); राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण: 1986, तीसरी आवृत्ति:2011,पृ. सं.- 289

11. शर्मा, रामविलास, संस्कृति और साहित्य आलोचना व निबंध, किताब महल, इलाहाबाद; संस्करण: 1949, पृ. सं.- 93

12. जैन, नेमिचन्द्र; मुक्तिबोध रचनावली (खण्ड-5); राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण: 1986, तीसरी आवृत्ति:2011, पृ. सं.- 289

13. जैन, नेमिचन्द्र; मुक्तिबोध रचनावली (खण्ड-5); राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण: 1986, तीसरी आवृत्ति:2011, पृ. सं.- 290

14. जैन, नेमिचन्द्र; मुक्तिबोध रचनावली (खण्ड-5); राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण: 1986, तीसरी आवृत्ति:2011, पृ. सं.- 292

15. शर्मा, रामविलास, साहित्य स्थानीय मूल्य और मूल्यांकन, अक्षर प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण: 1968 पृ. सं.- 35

16. शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र; हिन्दी साहित्य का इतिहास; कांति पब्लिकेशन्स, दिल्ली; संस्करण: 2011, पृ. सं.- 185

17. जैन, नेमिचन्द्र; मुक्तिबोध रचनावली (खण्ड-5); राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण: 1986, तीसरी आवृत्ति:2011, पृ. सं.- 51

18. जैन, नेमिचन्द्र; मुक्तिबोध रचनावली (खण्ड-5); राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण: 1986, तीसरी आवृत्ति:2011, पृ. सं.- 43

19. डॉ. नगेन्द्र; रीतिकाव्य की भूमिका आलोचना व निबंध, नेशनल पब्लिसिंग हाउस, नई दिल्ली; संस्करण: 1949, पृ. सं.- 16

20. वही, पृ. सं.- 16

21. जैन, नेमिचन्द्र; मुक्तिबोध रचनावली (खण्ड-5); राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण: 1986, तीसरी आवृत्ति:2011, पृ. सं.- 43

22. जैन, नेमिचन्द्र; मुक्तिबोध रचनावली (खण्ड-5); राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण: 1986, तीसरी आवृत्ति:2011, पृ. सं.- 47

23. जैन, नेमिचन्द्र; मुक्तिबोध रचनावली (खण्ड-5); राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण: 1986, तीसरी आवृत्ति:2011, पृ. सं.- 43

24. डॉ. नगेन्द्र; रीतिकाव्य की भूमिका आलोचना व निबंध, नेशनल पब्लिसिंग हाउस, नई दिल्ली; संस्करण: 1949, पृ. सं.- 16

25. जैन, नेमिचन्द्र; मुक्तिबोध रचनावली (खण्ड-5); राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण: 1986, तीसरी आवृत्ति:2011, पृ. सं.- 110

उपसंहार

हिंदी साहित्य में मुक्तिबोध को प्रबुद्ध रचनाकार माना जाता है। मुक्तिबोध साहित्य में जनधार्मिता के सतही पक्ष को तार्किक दृष्टि प्रदान की है। साहित्य संपूर्ण समाज को अभिव्यंजित करता है। किसी भी साहित्य में संपूर्ण समाज की अभिव्यक्ति तभी संभव होगा, जब साहित्यकार का इतिहासबोध, समाजबोध एवं सांस्कृतिकबोध का ज्ञान व्यापक एवं परिष्कृत हो। मुक्तिबोध का इतिहासबोध समसामायिक परिवेश से भी प्रासंगिक है। उनकी दृष्टि में साहित्य का उद्देश्य एवं दृष्टिकोण का होना आवश्यक है। कोई भी रचनाकार साहित्य का विवेचन किस 'सतही पक्ष' से कर रहा है, इसका भी मूल्यांकन होना चाहिए। मुक्तिबोध की रचनाभूमि जनसरोकार से जुड़ी है, जिसमें आखिरी पायदान पर खड़े व्यक्ति की स्वायत्तता शामिल हैं इतिहास में व्याख्यायित तमाम संघर्ष मानव इतिहास के विकास प्रक्रिया को अभिव्यंजित करता है। समाज गतिशील होता है। मुक्तिबोध की रचनात्मक अभिव्यक्ति में समाज के वर्गीय स्वरूप की भी आलोचना है।

आधुनिक काल में दो अहम ऐतिहासिक घटनाओं का जिक्र होता है, और वह घटना है- प्रथम-विश्वयुद्ध (1914-18) एवं द्वितीय- विश्वयुद्ध (1939-45), इन दोनों विश्वयुद्ध के कारण मानव समाज पर व्यापक असर पड़ा। द्वितीय विश्वयुद्ध ने मानव-अस्तित्व के इतिहास पर ही प्रश्न-चिन्ह खड़ा कर दिया। मुक्तिबोध द्वितीय-विश्वयुद्ध के दौर में प्रखर कवि के रूप सामने आते हैं, जिनकी वैचारिक भावभूमि जनसंवेदनाओं से जुड़ी है। द्वितीय-विश्वयुद्ध के दौर में पूँजीवाद चरम पर था। यांत्रिक साम्राज्यवादी विस्तार में विश्व दो धरों में बँट चुका था। इन दो

धरों के बीच गरीब-मजलूम जनता का इतिहास भी बड़ा ही कष्टप्रद है। मुक्तिबोध की साहित्यिक रचनाओं में इन सभी घटनाओं का प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से रूपायन हुआ है।

मुक्तिबोध कहानी, उपन्यास, आलोचना, कविता एवं डायरी में भी शासनतंत्र के तमाम पाखंड का भंडाफोड़, करते हैं। साहित्य व्यक्ति के व्यवहारिक क्रियाकलाप को सीधे-सीधे नहीं बताता, अपितु उसकी प्रक्रिया एवं संरचनात्मक रूप को दर्शाता है। जैसे- आदिकाल की परिस्थिति आधुनिक काल की परिस्थिति से भिन्न है, ठीक वैसे ही रीतिकाल की परिस्थिति भक्तिकाल से। आदिकाल से लेकर आधुनिक काल में मानव के विकास-प्रक्रिया का ऐतिहासिक पहलू रहा है। मुक्तिबोध का इतिहासबोध भी इसी मानव समाज के ऐतिहासिक प्रक्रिया एवं संरचना का तार्किक विवेचन करता है। आदिम व्यवस्था साम्यवादी व्यवस्था थी। धीरे-धीरे सामाजिक स्वरूप में बदलाव हुआ और सामंतवादी, दास एवं पूँजीवादी व्यवस्था में परिणत हो गया। आधुनिक सामाजिक व्यवस्था में पूँजीवादी व्यवस्था की गहरी पैठ है। मुक्तिबोध इसी बरगदनुमा पूँजीवादी व्यवस्था के शोषण के खिलाफ है, जिसमें मानव का अस्तित्व भी प्रेत-आत्मा की भाँति है। यह मानव इतिहास के उस गुँहान्धकार की भाँति है, जिसमें शोषित, पीड़ित वर्ग हमेशा अँधेरे बंद कमरे में जीवन जीने को विवश है।

आर्थिक वैषम्यता व्यक्ति के जीवनशैली को प्रभावित करता है। रामलाल कभी मि. बॉस नहीं बन सकता है। लेखक ने भारतीय समाज एवं संरचना को भी प्रमुखता से उजागर किया है। मध्यवर्ग की जड़ता भी कम नहीं है। वह आर्थिक

रूप से जितना निर्बल है उतना ही संघर्ष के क्षेत्र में अकर्मण्य भी। लेखक ने एक बेहतर समाज के निर्माण में जड़ता और निष्क्रियता को सिरे से खारिज किया है। आर्थिक और सामाजिक विषमता समाज में अनेक विद्रपता को जन्म देती है। मुक्तिबोध इतिहास के प्रति बड़े ही सचेत एवं संवेदनशील लेखक के तौर पर जाने जाते हैं। इतिहास हमें एक बेहतर वर्तमान और भविष्य की निर्मिति में सहयोग प्रदान करता है। भक्तिकाल का इतिहास आज भी इसीलिए प्रासंगिक है, क्योंकि भक्तिकाल के समाज का संघर्ष भी सामंती और राजशाही व्यवस्था के खिलाफ था। भक्तिकाल का जनसामान्य वर्ग सामाजिक जड़ता, धार्मिक पाखंड, जातिवाद, छूआछूत एवं ऊँच-नीच के खिलाफ संघर्ष किया है। कबीर, नानक, दादू, रैदास, मीराबाई, तुलसी, मलूकदास एवं आंडाल आदि सामाजिक जड़ता के खिलाफ संघर्ष का किया।

वस्तुतः प्रगतिशीलता सामाजिक पीढ़ी पर भी निर्भर करती है। कबीरकालीन समाज शोषण के खिलाफ पंडित, मौलवी और शाही सत्ता के विरूद्ध आमने-सामने संघर्ष किया है। जाति मनुष्य की बनाई हुई एक व्यवस्था है, उसपर जन्म लेने वाले शिशु का कोई अधिकार नहीं होता है। इसीलिए जाति विशेष की वर्चस्वता एवं श्रेष्ठता को भक्तिकाल में सिरे से खारिज किया गया। और 'राम' के एकत्व रूप सभी मनुष्य के सामने रखा गया। कबीर का राम निरंकारी है। कबीर ने ईश्वर के 'एकत्व' स्वरूप पर बल दिया और सभी मनुष्य को उसकी संतान बताया। कबीर की प्रासंगिकता आज भी बरकरार है, क्योंकि वह मनुष्य के समूल विकास में यकीन करते थे। इसीलिए जब भक्तिकाल के इतिहास और उसकी सामाजिक संरचना की व्याख्या की जाती है, तब कबीर के

विचार को प्रमुखता से उजागर किया जाता है। मुक्तिबोध साहित्य में अनुभूति को प्रमुखता से स्वीकारते हैं, तो वहीं कबीर 'आँखिन देखी' की उक्ति देते है। साहित्य में, और समाज में भी प्रगति तभी संभव है, जब मानव समाज के बीच की अनुभूति संवेदनात्मक स्तर से जुड़ा हो। यह संवेदना अचानक नहीं बनती है, इसीलिए मानव समाज को स्वयं में लगातार परिष्कार करना पड़ता हैं इतिहासबोध का संदर्भ भी इन्हीं तत्वों से जुड़ा हुआ।

मुक्तिबोध की कहानियों एवं कविताओं में भी आधुनिक समाज की समस्या का चित्रण हुआ। आधुनिक समाज के केन्द्र में 'पूँजी' अहम हैं वह वर्गीय ढाँचा की निर्मिति को अलग-अलग स्वरूपों में व्याख्यायित करता है। दिलचस्प बात तो यह है कि इस वर्गीय ढाँचा में प्रत्येक वर्ग की मौन, प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष सहमति है, नहीं तो दीमक भी बिकाऊ है और राव साहब भी बाह्य दृष्टि में 'उदार' और 'जेंटलमैन' मालूम पड़ते है। पूँजी सांस्कृतिक प्राधान्यता को भी प्रभावित करता है, जिसमें मध्यवर्ग सबसे ज्यादा प्रभावित होता है। मुक्तिबोध इन सभी तत्वों का विवेचन सूक्ष्मता से करते हैं। उनकी कहानी प्रतीकों बिंबों एवं रूपकों से केन्द्रित होकर वैचारिक जगत की आम जगत समस्या को अभिव्यंजित करती है। उनकी कहानियों में मध्यवर्ग की जड़ता, आर्थिक वैषम्यता, पूँजीवाद की नाभिनालबद्ध सरकारी तंत्र का खुलासा परत-दर-परत होता है।

मुक्तिबोध काव्य को सांस्कृतिक प्रक्रिया के रूप में स्वीकारते हैं। वे काव्य की रचना-प्रक्रिया एवं उसके प्रयोगधर्मिता के प्रति बहुत संवेदनशील है। इसीलिए रचनात्मक भावभूमि के सतह पर जितने आत्मचेतन है, उतनी ही उनकी रचनाओं

में जीवन और समाज की प्रसंग की बहु-वैविध्यता भी। मुक्तिबोध कबीर को अधिक आधुनिक और प्रासंगिक मानते हैं। तुलसी की रचना में उन्हें सामंती समाज की सहमति नजर आती है, जो उच्च और निम्न वर्ग एवं जाति दोनों स्तरों से देखा जा सकता है। साहित्य के विकास में सामाजिक स्थिति बहुत हदतक प्रभावित करती है। लेकिन रचनाकार के रचनात्मक मनोभूमि से ही उसका सतही पक्ष भी उजागर होता है। मीराबाई शाही परिवार और सत्ता के खिलाफ चुनौती दी। आज भी मीराबाई की प्रासंगिकता कृष्णभक्त मीरा से कहीं ज्यादा स्त्री-समाज को पुरूषप्रधान के खिलाफ प्रतिरोध करने का बल प्रदान करता है। यह प्रतिरोध वर्ग एवं वर्ण से ऊपर उठकर 'मानस-एकता' के प्रतीक रूप में है।

मुक्तिबोध रीतिकालीन साहित्य को ह्रासकालीन साहित्य की संज्ञा दी है। ह्रासकालीन साहित्य, वस्तुतः साहित्य की रचना-प्रक्रिया एवं उसके विविध आयाम से जुड़ा हुआ है। रीतिकाल में नायिकाभेद, नखसिख वर्णन एवं राजदरबारी साहित्य अधिक लिखा गया है। जनसामान्य वर्ग इस काल की रचनाओं के केन्द्र में नहीं हैं। केशव के साहित्य में काव्यशास्त्रीय निरूपण का अद्भूत प्रयोग देखा जा सकता है।

बिहारी के दोहों में भी नायिकाभेद एवं नखसिख वर्णन का चित्रण है। चिंतामणि, भिखारीदास मतिराम, कुलपति मिश्र, दूलह एवं रसनिधि की रचनाओं में काव्यशास्त्रीय निरूपण का बेजोड़ प्रयोग देखा जा सकता है, लेकिन यह साहित्य जनसामान्य का साहित्य नहीं है। दरबारी साहित्य में कवि और चारण राजाओं की प्रसस्ति हेतु लिखते थे। मुक्तिबोध की दृष्टि में यह साहित्य

जनसामान्य की दृष्टि से उत्कृष्ट नहीं है। क्योंकि सामंती समाज में उत्कृष्टता का प्रश्न भी दरबारी स्वर में निर्धारित होता है। रीतिकालीन रचनाओं में श्रृंगारिकता की प्रधानता अधिक रही है।

हिन्दी साहित्य में आलोचना का प्रादुर्भाव भारतेंदु हरिश्चन्द्र के 'नाटक' नामक रचना प्रारंभ माना जाता है। आलोचना का व्यस्थित एवं परिष्कृत स्वरूप आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने पल्लवित किया है। उनकी प्रसिद्ध कृति 'हिंदी साहित्य का इतिहास' आज की आलोचना में भी प्रमुख स्थान रखती है। इसके पश्चात् हजारीप्रसाद द्विवेदी, नंददुलारे वाजपेयी, डॉ. नगेन्द्र एवं डॉ. रामविलास शर्मा इत्यादि प्रबुद्ध आलोचक हुए हैं। इनकी आलोचना एंव विचारधारा अलग-अलग रही है। मुक्तिबोध मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित रचनाकार हैं।

मार्क्सवादी विचारधारा का संबंध सर्वहारा वर्ग से है। मुक्तिबोध की साहित्यिक आलोचना में इसका प्रभाव साफ-साफ देखा जा सकता है। वे किसी भी विचारधारा के अंधभक्तगामी नहीं हैं, क्योंकि कोई भी विचारधारा मुकम्मल नहीं होता है, वह युग एवं परिस्थिति को बहुत हद तक प्रभावित करता है। मार्क्सवाद का उदय पूँजीवादी व्यवस्था के खिलाफ हुआ था। जो आज भी बदस्तूर जारी है। मुक्तिबोध की आलोचना में भी इन सभी संदर्भों का उल्लेख है। वे आलोचना को वैज्ञानिक एवं तर्कसम्मत दृष्टि से देखने के पक्षधर थे। इसीलिए उन्होंने इतिहास एवं ऐतिहासिक प्रक्रिया में मानव और मानवेतिहास की विकास प्रक्रिया को अहम माना है। आलोचना तबतक तार्किक नहीं होगी, जबतक वह

किसी-न-किसी जड़ता का शिकार होती रहेगी। मुक्तिबोध इसी जड़ता के घोर विरोधी हैं।

सशक्त आलोचना समाज को प्रगतिशील बनाती है। साहित्य, इतिहास और समाजशास्त्रीय अध्ययन भी यही साबित करता है कि जब-जब समाज जड़ता का शिकार हुआ, तब-तब समाज में आर्थिक, सामाजिक एक राजनीतिक असमानता फैली है। साहित्य में आलोचना का भी तर्कसंगत एवं मौलिक विवेचन आवश्यक है। मुक्तिबोध का रचनात्मक व्यक्तित्व, साहित्य एवं इतिहास की मौलिक एवं वैज्ञानिक विवेचना के लिए प्रतिबद्ध है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

आधार ग्रंथ सूची-

1. जैन, नेमिचंद्र (संपा.); मुक्तिबोध रचनावली (खण्ड-4,5,6); राजकमल प्रकाशन, प्रा. लि. 1-बी, सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली- 110002; संस्करण: 1986

2. मुक्तिबोध, गजानन माधव; एक साहित्यिक की डायरी; भारतीय ज्ञानपीठ, 18 इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली; संस्करण: 2014

3. मुक्तिबोध, गजानन माधव; नयी कविता आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबंध; राजकमल प्रकाशन, प्रा. लि. 1-बी, सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002; संस्करण: 2012

4. मुक्तिबोध, गजानन माधव; कामायनी: एक पुनर्विचार; राजकमल प्रकाशन, प्रा. लि. 1-बी, सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002; संस्करण: 2010

5. मुक्तिबोध, गजानन माधव; नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र; राधाकृष्ण प्रकाशन, अंसारी रोड, दरियागंज, दिल्ली-6; संस्करण: 1971

6. मुक्तिबोध, गजानन माधव; भारत: इतिहास और संस्कृति; राजकमल प्रकाशन प्रा. लि. 1-बी, सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002; संस्करण: 2009

सहायक ग्रंथ सूची-

1. शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र; हिन्दी साहित्य का इतिहास; कांती पब्लिकेशन्स, दिल्ली; संस्करण: 2011

2. डॉ. नगेन्द्र (संपा.); हिन्दी साहित्य का इतिहास; मयूर पेपरबैक्स, नोएडा, दिल्ली, संस्करण: 2012

3. द्विवेदी, हजारीप्रसाद; हिन्दी साहित्यः उद्भव और विकास; राजकमल प्रकाशन, 1-बी, सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002; संस्करण: 1990

4. द्विवेदी, हजारीप्रसाद; हिन्दी साहित्य का आदिकाल; वाणी प्रकाशन, 4695, 21-ए, दरियागंज, नई दिल्ली-110002; संस्करण: 2006

5. द्विवेदी, हजारीप्रसाद; हिन्दी साहित्य की भूमिका; राजकमल प्रकाशन, प्रा. लि. 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग दरियागंज, नई दिल्ली-110002; संस्करण: 2016

6. द्विवेदी, हजारीप्रसाद; कबीर ; राजकमल प्रकाशन, प्रा. लि. 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग दरियागंज, नई दिल्ली-110002; सत्रहवीं आवृत्ति 2011

7. सिंह, डॉ. बच्चन; आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास; लोकभारती प्रकाशन, पहली मंजिल, दरबारी बिल्डिंग, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद-211001; संस्करण: 2012

8. त्रिपाठी, विश्वनाथ; हिन्दी आलोचना; राजकमल प्रकाशन, प्रा. लि. 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग दरियागंज, नई दिल्ली-110002; संस्करण: 1992, चैदहवीं आवृत्तिः 2014

9. पांडेय, डॉ. मैनेजर; आलोचना की सामाजिकता; वाणी प्रकाशन, 4695, 21-ए, दरियागंज, नई दिल्ली-110002; संस्करण: 2008

10. पांडेय, डॉ. मैनेजर; अनभै साँचा; वाणी प्रकाशन, 4695, 21-ए, दरियागंज, नई दिल्ली-110002; संस्करण: 2012

11. सिंह, नामवर; आलोचना और विचारधारा; आशीष त्रिपाठी (संपा.); राजकमल प्रकाशन, प्रा. लि. 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग दरियागंज, नई दिल्ली-110002; संस्करण: 2012

12. सिंह, नामवर; इतिहास और आलोचना; राजकमल प्रकाशन, प्रा. लि. 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग दरियागंज, नई दिल्ली-110002; संस्करण: 2012

13. पांडेय, मैनेजर; शब्द और कर्म; वाणी प्रकाशन, 4695, 21-ए, दरियागंज, नई दिल्ली-110002; संस्कराण: 1997

14. मिश्र शिवकुमार ; साहित्य इतिहास और संस्कृति; वाणी प्रकाशन, 4695, 21-ए, दरियागंज, नई दिल्ली-110002; संस्करण: 2007

15. वर्मा, निर्मल; कला के जोखिम; वाणी प्रकाशन, 4695, 21-ए, दरियागंज, नई दिल्ली-110002; संस्करण: 2018

16. शर्मा, रामविलास; नयी कविता और अस्तित्ववाद; राजकमल प्रकाशन, प्रा. लि. 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग दरियागंज, नई दिल्ली-110002; संस्करण: 2018

17. शर्मा, रामविलास; परम्परा का मूल्यांकन; राजकमल प्रकाशन, प्रा. लि. 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग दरियागंज, नई दिल्ली-110002; संस्करण: 2018

18. शर्मा, रामविलास; आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना; राजकमल प्रकाशन, प्रा. लि. 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग दरियागंज, नई दिल्ली-110002; संस्करण: 2017

19. सिंह, नामवर; कविता के नये प्रतिमान; राजकमल प्रकाशन, प्रा. लि. 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग दरियागंज, नई दिल्ली-110002; संस्करण: 1990

20. जैन, निर्मला; पाश्चात्य साहित्य चिंतन; राधाकृष्ण प्रकाशन, प्राइवेट लिमिटेड 7/13, अंसारी मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002; संस्करण: 2013

21. दास, डॉ. श्यामसुंदर (संपा.); कबीर ग्रंथावली; प्रकाशन संस्थान, 4268-बी-3, अंसारी रोड, दरियागंज, नयी दिल्ली-110002; संस्करण: 2013

22. चतुर्वेदी, रामस्वरूप; काव्यभाषा पर तीन निबंध; डॉ. सत्यप्रकाश मिश्र (संपा.); लोकभारती प्रकाशन, पहली मंजिल, दरबारी बिल्डिंग महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद-211001; संस्करण: 2008

23. चतुर्वेदी, रामस्वरूप; इतिहास और आलोचक-दृष्टि; लोकभारती प्रकाशन, पहली मंजिल, दरबारी बिल्डिंग महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद-211001; संस्करण: 2013

24. शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र; सूरदास; वाणी प्रकाशन, 4695, 21-ए, दरियागंज, नयी दिल्ली-110002; संस्करण: 2008

25. शुक्ल आचार्य रामचन्द्र; चिन्तामणि-1; प्रकाशन संस्थान, 4268-बी-3, अंसारी रोड, दरियागंज, नयी दिल्ली-110002; संस्करण: 2012

26. शास्त्री, त्रिलोचन (संपा.); मुक्तिबोध की कविताएँ; साहित्य अकादमी, रवीन्द्र भवन, 35, फीरोजशाह मार्ग नई दिल्ली; संस्करण: 1991

27. चतुर्वेदी, रामस्वरूप; हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास; लोकभारती प्रकाशन, पहली मंजिल, दरबारी बिल्डिंग महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद-211001; संस्करण: 2010

28. वाजपेयी, अशोक (संपा.); गजानन मा. मुक्तिबोध: प्रतिनिधि कविताएँ; राजकमल प्रकाशन, प्रा. लि. 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग दरियागंज, नई दिल्ली-110002; संस्करण: 1991, आवृत्ति: 2014

29. प्रसाद, जयशंकर; कामायनी; राजकमल प्रकाशन, प्रा. लि. 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग दरियागंज, नई दिल्ली-110002; संस्करण: 1994, आठवीं आवृत्ति: 2012

30. सिंह, नामवर; वाद विवाद संवाद; राजकमल प्रकाशन, प्रा. लि. 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग दरियागंज, नई दिल्ली-110002; संस्करण: 2007

31. सिंह, नामवर; दूसरी परम्परा की खोज; राजकमल प्रकाशन, प्रा. लि. 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग दरियागंज, नई दिल्ली-110002; संस्करण: 2014

32. सिंह, नामवर; आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ; लोकभारती प्रकाशन, पहली मंजिल, दरबारी बिल्डिंग महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद-211001; संस्करण: 2014

33. सिंह, नामवर; कविता की जमीन और जमीन की कविता; आशीष त्रिपाठी (संपा.); राजकमल प्रकाशन, प्रा. लि. 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग दरियागंज, नई दिल्ली-110002; संस्करण: 2016

34. सिंह, नामवर; छायावाद, राजकमल प्रकाशन, प्रा. लि. 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग दरियागंज, नई दिल्ली-110002; संस्करण: 2014

35. सिंह, बच्चन; आधुनिक हिंदी आलोचना के बीज शब्द; वाणी प्रकाशन, 4695, 21-ए, दरियागंज, नयी दिल्ली-110002; संस्करण: 2012

36. श्रीवास्तव, परमानंद; प्रतिरोध की संस्कृति और साहित्य; भारतीय ज्ञानपीठ, 18, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नयी दिल्ली-110003; संस्करण: 2014

37. हॉब्सवाम, एरिक जे.; इतिहासकार की चिंता; कृष्ण चैतन्य, गोपाल प्रधान (अनु.); ग्रंथ शिल्पी (इंडिया) प्रा. लि. बी-7, सरस्वती कॉम्पलैक्स, लक्ष्मीनगर दिल्ली; संस्करण: 2015

38. श्रीवास्तव, डॉ. रवि; परम्परा, इतिहासबोध और साहित्य; पोइन्टर पब्लिशर्स व्यास बिल्डिंग, एस.एम.एस. हाइवै, जयपुर; संस्करण: 2005

39. श्रीवास्तव, डॉ. रवि; समाज और आलोचना; नेशनल पब्लिशिंग हाउस, जयपुर; संस्करण: 2005

40. श्रीवास्तव, परमानंद; आलोचना की संस्कृति; सामयिक प्रकाशन, 3320-21, जटवाड़ा, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002; संस्करण: 2013

41. डॉ. सत्येन्द्र (संपा.); निबंध-निलय; वाणी प्रकाशन, 4695, 21-ए, दरियागंज, नयी दिल्ली-110002; संस्करण: 2008

42. मिश्र, शिवकुमार; साहित्य और सामाजिक संदर्भ; प्रकाशन संस्थान, 4268-बी-3, अंसारी रोड, दरियागंज, नयी दिल्ली-110002; संस्करण: 2012

43. क्षोत्रिय, प्रभाकर; साहित्य की इतिहास दृष्टि; वाणी प्रकाशन, 4695, 21-ए, दरियागंज, नयी दिल्ली-110002; संस्करण: 2010

44. पांडेय, मैनेजर; साहित्य और इतिहास दृष्टि; वाणी प्रकाशन, 4695, 21-ए, दरियागंज, नयी दिल्ली-110002; संस्करण: 2008

45. शर्मा, डॉ. रामविलास; संस्कृति और साहित्य आलोचना व निबंध; किताब महल, 56-ए, जीरो रोड, इलाहाबाद; संस्करण: 1949

46. शर्मा, रामविलास; साहित्य मूल्य और मूल्यांकन; अक्षर प्रकाशन, प्रा. लि. 2/36, अंसारी रोड़, दरियागंज, दिल्ली-6; संस्करण: 1968

47. डॉ. नगेन्द्र; अनुसंधान और आलोचना; नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई सड़क, दिल्ली, संस्करण: 1961

48. डॉ. नगेन्द्र; रीति-काव्य की भूमिका आलोचना व निबंध; नेशनल पब्लिसिंग हाउस, नई सड़क, दिल्ली; संस्करण: 1949

49. द्विवेदी, हजारीप्रसाद; विचार प्रवाह; राजकमल प्रकाशन, प्रा. लि. 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग दरियागंज, नई दिल्ली-110002; संस्करण: 1994

50. अज्ञेय, सच्चिदानन्द वात्स्यायन; सर्जना और संदर्भ; नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली, संस्करण: 1985

51. मदान, इन्द्रनाथ (संपा.); कामायनी: मूल्यांकन और मूल्यांकन; नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद; संस्करण: 1969

52. चौहान, शिवदानसिंह; साहित्यानुशीलन; आत्माराम एंड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली; संस्करण: 1955

53. वाजपेयी, आचार्य नंददुलारे; आधुनिक साहित्य; भारती भंडार, इलाहाबाद; संस्करण: संवत् 2007

54. त्रिपाठी, अरविंद (संपा.); हिंदी आलोचना के नवरत्न, शिल्पायन प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण: 2013

55. शर्मा, रामविलास; प्रगति और परंपरा; किताब महल, 56-ए, इलाहाबाद; संस्करण: 1948